थे और अपने ऐश्वर्य प्रकट कर दिखाये हैं, जिसमें भक्त उनको भगवान् जानकर उनका भजन करें। क्रमसे उदाहरण सुनिये।

१ ऐश्वर्य (ईश्वरता)—'*रामराज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।*
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥' (७। २१)

२ धर्म—'**चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥**' (७। २१। ३)

३ यश—'*जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं।*
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥' (७। १३)

४ श्री—'*रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ।*
अनिमादिक सुख संपदा रहीं अवध सब छाइ॥' (७। २९)

५ ज्ञान—'*धरम तड़ाग ग्यान बिग्याना। ए पंकज बिकसे बिधि नाना॥*' (७। ३१। ७)

६ वैराग्य—'*सुख संतोष बिराग बिबेका। बिगत सोक ए कोक अनेका॥*' (७। ३१। ८)

अथवा, अर्थ करें कि जैसा पूर्व ऐश्वर्य कह आये कि '*बिनु पद चलै सुनै बिनु काना।*''''''' इत्यादि, ऐसे ऐश्वर्ययुक्त जो भगवान् हैं वही दशरथ कोसलपतिके सुत हुए। पुनः भाव कि भक्तके सम्बन्धसे '*भगवान*' कहा। ('भगवान्' शब्दका प्रयोग प्रायः उन सब स्थानोंमें हुआ है जहाँ भक्तोंका हित कहा गया है; यथा—'*व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥ सो केवल भगतन्ह हित लागी॥*' (१। १३। ४-५) '*भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥*' (१४६। ८) '*भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप॥*' (७। ७२) तथा यहाँ '*भगत हित कोसलपति भगवान*' कहा। अथवा, कोसलमें बड़ा ऐश्वर्य है; आप उसके पति हैं, अतः '*भगवान*' कहा।)

नोट—वेदों और पण्डितोंका गान करना पूर्व चौपाइयोंकी व्याख्यामें दिखाया गया है। तत्त्ववेत्ता मुनि उनका ध्यान करते हैं, इसका प्रमाण स्वयं श्रीशुकदेवजी हैं। इन्होंने श्रीमद्भागवतमें 'महापुरुष' कहकर इन्हींकी वन्दना की है। यथा—'**ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्। भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्। मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद् वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥**'

वि० त्रि०—'*आदि अंत कोउ जासु न पावा।*' से यहाँतक शिवजीने वेदकी ओरसे कहा।

कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करौं बिसोकी॥ १॥
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब* उर अंतरजामी॥ २॥

अर्थ—जिनके नामके बलसे मैं काशीके जीवोंको मरते हुए देखकर (अर्थात् उनके प्राणोंके निकलनेका समय जानकर) शोकरहित करता हूँ॥ १॥ वे ही मेरे प्रभु अर्थात् इष्टदेव हैं, चराचरके स्वामी हैं, रघुवर हैं और सबके हृदयकी जाननेवाले हैं†॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) '**जंतु**'=छोटे-बड़े सभी जीव जिन्होंने जन्म लिया।=जितने भी शरीरधारी हैं। यथा 'जन्तु जन्यु शरीरिणः' (इत्यमरः) (ख) '*करौं बिसोकी*' अर्थात् गति देता हूँ। यथा—'*जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अबिनासी॥*' (४। १०) '*आकर चारि जीव जग अहहीं। कासी मरत परम पद लहहीं॥*' (१। ४६) [भव-साँसति सहना, बारम्बार जन्म-मरण होना, इत्यादि 'शोक' है। इनसे रहित करते हैं। जन्म-मरण छुड़ाना, उनको परमपदकी प्राप्ति करा देना, '*बिसोकी*' करना है। शुकदेवलालजी '*बिसोकी*' का अर्थ '*बिसोक लोक बासी*' करते हैं। '*बिसोक लोक*' अर्थात् जहाँसे फिर संसारमें न आना पड़े। '*लोक बिसोक बनाइ बसाए।*' (१। १६। ३) देखिये। ☞काशीमें मरे हुए जीवोंको किस प्रकारकी मुक्ति प्राप्त होती है अथवा कौन लोक प्राप्त होता है, इसमें मतभेद है। श्रीरामोत्तरतापिनी उपनिषद्में केवल

* बस—१७०४, १७६२। † अर्थान्तर—वे अन्तर्यामी रघुवर सबके हृदयमें हैं। (वि० त्रि०)

'मुक्ति' होनेका वरदान है। यथा—'**स होवाच श्रीरामः।''''''मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम्। उपदेक्ष्यसि मन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिव।।**' अर्थात् श्रीरामजीने कहा—हे शिव! यहाँपर मरते हुए प्राणियोंके दाहिने कानमें तुम स्वयं या किसी औरके द्वारा हमारे मन्त्रका उपदेश कर या करा दोगे तो वह प्राणी मुक्त हो जायगा। विशेष '***कासी मुकुति हेतु उपदेसू।***' (१। १९। ३; १। ४६। ४-५ देखिये।) '***जासु नाम बल***' का भाव कि काशीमें जीवोंकी मुक्ति होना यह उनके नामका प्रभाव है। जिसके नाममें यह प्रभाव है।]

टिप्पणी—२ '***सोइ प्रभु मोर''''''***' इति। (क) '***सोइ***' अर्थात् जीवोंको जिनके नामका उपदेश मैं किया करता हूँ वही रघुवर मेरे प्रभु हैं। ['वही मेरे प्रभु हैं' कहकर जनाया कि जीवोंको मुक्त करनेका सामर्थ्य उन्हींने मुझको दिया है, यह प्रभुत्व उन्हींका है।] पुनः भाव कि उन्हींका नाम मैं भी जपता हूँ, यथा—'*तव नाम जपामि नमामि हरी।*' (७। १४) '***महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी''''''***' (१। १९) केवल दूसरोंको ही उपदेश नहीं देता। (ख) '**चराचरस्वामी**' हैं अर्थात् जड-चेतन सभीका पालन-पोषण करते हैं। '***सब उर अंतरजामी***' अर्थात् सबके हृदयकी जानते हैं, अन्तर्यामीरूपसे सबको चैतन्य किये हुए हैं। (ग) '***रघुबर सब उर अंतरजामी***' का भाव कि ये '***रघुबर***' हैं, इसीसे सबके हृदयकी जानते हैं। '***रघुबर***' शब्दका अर्थ है 'अन्तर्यामी', वही गोस्वामीजी यहाँ लिखते हैं। यथा—'***को जिय कै रघुबर बिनु बूझा।***' (२। १८३) तथा यहाँ '***रघुबर सब उर अंतरजामी***' कहा।

टिप्पणी—३ ☞श्रीपार्वतीजीके संदेह-निवारणार्थ श्रीशिवजी अनेक प्रकारसे ऐश्वर्य निरूपण करके माधुर्यमें उसका पर्यवसान करते हैं। और माधुर्यबोधक नाम कहते हैं। (१) प्रथम '***राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना।*** (११६। ८) से लेकर'***पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रगट परावरनाथ।***' (११६) तक ऐश्वर्य कहकर उस ऐश्वर्यस्वरूपको उन्होंने '***रघुकुलमनि***' में स्थापित किया—'***रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ।***' (११६) (२) फिर, '***बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥ सब कर परम प्रकासक जोई***' में ऐश्वर्य कहा और तुरत '***राम अनादि अवधपति सोई***' कहकर उस ऐश्वर्यको उन्होंने '***अवधपति राम***' अर्थात् '***रघुबर राम***' में घटाया। (३) तीसरी बार, '***जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।***' (११७। ७) से '***जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।***' (११८। ३) तक ऐश्वर्य कहकर तब '***गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई***' माधुर्यमें उस ऐश्वर्यको घटा दिया। फिर, (४) '***आदि अंत को जासु न पावा।***' (११८। ४) से '***जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।***'(११८) तक ऐश्वर्य कहकर तब '***सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान***' से उसका एकीकरण कर दिखाया। इसी तरह यहाँ '***जासु नाम बल करउँ बिसोकी***' से ऐश्वर्य कहकर उसीको '***सोइ प्रभु मोर''''''। रघुबर***' इस माधुर्यमें घटाया। इत्यादि।

टिप्पणी—४ ☞यहाँतक पार्वतीजीके (ब्रह्मविषयक) प्रश्नोंके उत्तर दिये गये—

प्रश्न		उत्तर
'*प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥ सेस सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना॥ रामु सो अवधनृपति सुत सोई।*' (१०८। ५, ६, ८)	१	'*जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान। सोइ दसरथसुत''''''।*' (११८)
'*तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती।*' (१०८। ७)	२	'*कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करौं बिसोकी॥ सोइ प्रभु मोर''''''रघुबर''''''।*'
'*की अज अगुन अलखगति कोई।*' (१०८। ८)	३	'***अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।***' (११६। २)

तात्पर्य कि जिसको वेद-पुराण गाते हैं, जिसको हम जपते हैं, वही दशरथसुत हैं। ☞पार्वतीजीको विश्वास है कि वेद-पुराण, शिव और मुनि—ये तीनों जिसके उपासक हैं वही ब्रह्म हैं [वा, इन तीनोंके

सिद्धान्त जहाँ एक हों, जिसे ये तीनों ब्रह्म प्रतिपादित करें वही ब्रह्म हैं—यह पार्वतीजीने मनमें निश्चय किया है। मा० पी० प्र० सं०] इस विचारसे शिवजीने तीनोंका प्रमाण दिया-*'जेहि इमि गावहिं बेद, जाहि धरहिं मुनि ध्यान'* और *'सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी'।*

वि० त्रि०—यह शिवजीने पुराणोंकी ओरसे कहा। आगे अर्द्धाली ३, ४, ५ में अपनी ओरसे कहते हैं।

बिबसहु जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित* अघ दहहीं॥ ३॥

सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव बारिधि गोपद इव तरहीं॥ ४॥

अर्थ—विवश होकर भी जिसका नाम मनुष्य लेते (उच्चारण करते) हैं (तो उनके) अनेक जन्मोंके अच्छी तरह किये हुए पाप भस्म हो जाते हैं॥ ३॥ और, जो मनुष्य आदरपूर्वक उनका स्मरण करते हैं, वे भवसागरको गौके खुरके समान पार कर जाते हैं॥ ४॥

नोट—१ **'बिबसहु'**=बेबस होनेपर भी, जैसे कि शत्रुके वशमें पड़कर, गिरते-पड़ते, आलस्यमें जँभाई लेते, दुःख या पीड़ासे व्याकुल होकर, यमदूतोंके भयसे इत्यादि। जैसे अजामिल आदिके मुखसे निकला था। वा=लाचारीसे पराधीनतावश, परतन्त्रताके कारण, जैसे कि सन्तोंके साथ पड़ जानेसे (जैसा कि रामघाटनिवासी साकेतवासी श्रीरामशरणजी मौनीबाबाके पास जानेपर अवश्य रामनाम लेना पड़ता था)। इस तरह *'बिबसहु'* का भाव 'अनादरसे भी' है, अर्थात् आदरपूर्वक प्रेमसे नहीं। यह अर्थ आगेके *'सादर सुमिरन जे नर करहीं'* से सिद्ध होता है। यहाँ *'बिबसहु'* से अनादरसहित उच्चारणका और *'सादर सुमिरन'*......' से आदरपूर्वक उच्चारणका फल बताया है। कवितावलीमें *'बिबस'* और *'सादर'* का भाव यों दिखाया है—*'आँधरो अधम जड़ जाजरो जरा जवन सूकर के सावक ढका ढकेल्यो मग्ग मैं। गिरो हिय हहरि 'हराम हो हराम हन्यो', हाय हाय करत परिगो काल फग्ग मैं॥ तुलसी बिसोक ह्वै तिलोकपति लोक गयो नामके प्रताप बात बिदित है जग्ग मैं सोई। रामनाम जो सनेह सो जपत जन ताकी महिमा क्यों कही है जाति अगमैं॥'* (क० उ० ७६) इस कवित्तके प्रथम दो चरणोंमें 'विवश' होकर 'राम' शब्दका उच्चारण होना दिखाया है। शूकरके बच्चेने यवनको धक्का देकर जब ढकेल दिया और वह भड़भड़ाकर गिर पड़ा तब उसके मुखसे 'हराम शब्दका उच्चारण हुआ, जिसमें अन्तमें 'राम' है। ☞वराहपुराणमें भी कहा है—**'तीर्णो गोष्पदवद्भवार्णवमहो नाम्नः प्रभावात्पुनः। किं चित्रं यदि रामनामरसिकास्ते यान्ति रामास्पदम्॥'** अर्थात् श्रीरामनामके प्रभावसे वह गौके खुरके गड्ढेके समान भवसागरको तर गया तब यदि श्रीरामनामके रसिक श्रीरामजीके परमधामको प्राप्त होते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?'

टिप्पणी—१ (क) *'बिबसहु'*..............' यथा—*'राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहिं न पाप पुंज समुहाहीं॥'* (२। १९४। ५) रामनाम विवशतासे भी कहे तो भी अनेक जन्मोंके रचे हुए पाप नष्ट हो जाते हैं—यह नामकी महिमा है। **दहहीं**=भस्म होते वा करते हैं। जलाना, भस्म करना अग्निका धर्म है, अतः *'दहहीं'* से सूचित किया कि पाप रूई है, 'अनेक जन्म रचित पाप' रूईका पर्वत है, श्रीरामनाम अग्नि है, यथा—*'जासु नाम पावक अघ तूला। सुमिरत सकल सुमंगल मूला॥'* (२। २४८। २) **'प्रमादादपि संस्पृष्टो यथानलकणो दहेत्। तथौष्ठपुटसंस्पृष्टं रामनाम दहेदघम्॥'** (पद्मपुराण) (ख) ☞शिवजीके उपदेशसे जीव विशोक हुए, यह नामके सुननेका माहात्म्य है। *'जासु नाम बल करौं बिसोकी'* से सुननेका फल कहकर अब *'बिबसहु जासु नाम'*......' में अपने मुखसे नामोच्चारण करनेका माहात्म्य कहते हैं। इस तरह जनाया कि रामनामके कहने तथा सुननेका फल एक ही है, नहीं तो शिवजीके उपदेशसे विशोक न हो सकते। अपने मुखसे जपनेसे भी जीव विशोक होते हैं, यथा—*'चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भये नाम जपि जीव बिसोका॥'* (१। २७। १)

टिप्पणी—२ *'सादर सुमिरन'*......' इति। नाम-जपसे पापका नाश और मोक्ष दोनों कहे। इसका तात्पर्य

* सँचित—बैं०।

यह है कि भक्तिसे कर्म और ज्ञान दोनोंका फल प्राप्त होता है। नाम-जप भक्ति है, उससे पापका नाश होना यह कर्मका फल मिला और नित्य-नैमित्तिक मुक्ति होना यह ज्ञानका फल मिला।—'**ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः**' इति श्रुतिः।

वि० त्रि०—विवश उच्चारणका फल बताया कि पापराशि जल जाती है, परन्तु पुण्य बच जाते हैं, जिनके भोगनेमें फिर पाप-पुण्य होते हैं, जिससे जन्म-मरणरूपी संसार बना रहता है। सादर स्मरण करनेवालेके शुभाशुभ कर्ममात्रका दाह हो जाता है, जिससे वह अनायास भवपार हो जाता है।

मा० पी० प्र० सं०—इस प्रसंगमें यह बात स्मरण रखनेकी है कि गोस्वामीजी जहाँ जिसका जैसा मत है वहाँ वैसा ही कहते हैं। उन्होंने ज्ञानियों और उपासकोंका मत पृथक्-पृथक् दिखाया है। देखिये, '*जेहि जाने जग जाइ हेराई*……।' (११२। २) में उन्होंने ज्ञानियोंका सिद्धान्त कहा कि श्रीरामजीको जाननेसे संसार स्वप्नवत् खो जाता है और यहाँ '*सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव*……' में भक्तोंका सिद्धान्त बताया कि भक्तके वास्ते सादर स्मरणमात्रसे संसार छूट जाता है। ये दोनों बातें एक ही हैं।—(पं० रामकुमारजीकी टिप्पणीमें यह नहीं है।)

राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी॥ ५॥
अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—**परमातमा**=परमेश्वर, ब्रह्म। **अबिहित**=अयोग्य, अनुचित।

अर्थ—हे भवानी! वही परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी हैं। 'उनमें भ्रम' यह तुम्हारे वचन, (वा, उनके प्रति तुम्हारे भ्रमके वचन) अत्यन्त अयोग्य हैं, वेद-विरुद्ध हैं॥ ५॥ ऐसा संशय (संदेह) हृदयमें लाते ही ज्ञान-वैराग्य आदि समस्त सद्गुण चले (अर्थात् नष्ट हो) जाते हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) ☞यहाँतक शिवजीने श्रीरामजीको ब्रह्म कहा, भगवान् कहा और परमात्मा कहा। यथा—'*राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना*।' (११६) '*सोइ दसरथसुत भगत हित कोसलपति भगवान*।' (११८) '*राम सो परमातमा भवानी*।' (यह भगवान्‌का सूत्ररूपसे वर्णन है, यथा—'**ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते**' इति भागवते) वेदान्ती ब्रह्म, भक्त भगवान् और योगी परमात्मा कहते हैं। तीन दृष्टिसे यहाँ ये तीन शब्द कहे। (ख) '*तहँ भ्रम*………'—वह भ्रमकी वाणी यह है—'*जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि।' देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥*' (१०८) (ग) '*अति अबिहित*' अर्थात् वेदविरुद्ध है। [भाव कि वहाँ यदि भ्रम दिखायी पड़े तो उसे अपना भ्रम समझना चाहिये। जिसे सूर्य तमोमय दिखायी पड़े, उसे समझना चाहिये कि यह अपना भ्रम है, कुछ दोष मुझमें ऐसा आ गया है, जिससे ऐसा दिखायी पड़ रहा है। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ '*अस संसय आनत*………।' इति। ज्ञान-वैराग्यादि समस्त गुण पापसे नष्ट होते हैं। अतः '*ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं*' कहकर जनाया कि ऐसा संशय हृदयमें लाना बड़ा भारी पाप है। उदाहरण, यथा—'*अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥*' (१। ५१) (श्रीसतीजी), '*नाना भाँति मनहि समुझावा। प्रगट न ग्यान हृदय भ्रम छावा॥*' (७। ५९) (श्रीगरुड़जी) [संशय और भ्रम होनेसे दोनोंको ज्ञानका उदय नहीं हो रहा है। अर्थात् ज्ञान नष्ट हो गया है।]

☞श्रीपार्वतीजीने प्रार्थना की थी कि मेरा मोह, संशय और भ्रम नाश कीजिये। अतः शिवजी इन तीनोंकी निवृत्तिके लिये उपदेश कर रहे हैं।

प्रार्थना		उपदेश
'*जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू*।' (१०९। २)	१	'*जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा॥ राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥*' (११६। ४-५)। '*प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी*', '*उमा राम बिषइक अस*

मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥'……………… ।*'जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव सोह सहाया॥'*……… ११७ इत्यादि वाक्योंसे मोह दूर किया।

'अजहूँ कछु संसउ मन मोरें' — २ *'अस संसय आनत उर माहीं। ग्यान बिराग सकल गुन जाहीं।'* से संसय दूर किया।

'हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी' (१०८। ४) — ३ *'जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा', 'निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी'।* (११७) *'जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि।* (११७) ………*जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।', 'राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी॥'* इत्यादि वाक्योंसे भ्रम दूर किया।

नोट—*'अस संसय आनत*……… *'* का भाव कि श्रीरामजी ज्ञानवैराग्यादि गुणोंके मूल कारण हैं। जब कारणहीमें भ्रम हो गया तब कार्य कैसे रह सकते हैं? भ्रमके साथ ही वे सब चल देते हैं। ध्वनिसे यह एक प्रकारका शिवजीका शाप दाशरथी राममें संशय करनेवालोंके लिये सिद्ध होता है। (मा० पी० प्र० सं०)

☞'उपर्युक्त तीन प्रार्थनाओंके सम्बन्धमें यहाँतक उपदेश हुआ।

इति दाशरथी श्रीराम-परात्पर-स्वरूप-वर्णन।

सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना। मिटि गै सब कुतरक कै रचना॥ ७॥
भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती॥ ८॥

शब्दार्थ—**कुतरक** (कुतर्क)=वेद-विरुद्ध तर्क। **रचना**=गढन्त, बनावट, स्थिति। यथा—*'जयति बचन रचना अति नागर।'* (२८५। ३) *'देखत रुचिर बेष कै रचना।'* (४। २) **असंभावना**=जिसका होना सम्भव न हो; जैसे पार्वतीजीका यह दृढ़ निश्चय था कि ब्रह्मका नरतन धारण करना असम्भव है, कभी ऐसा हो ही नहीं सकता। **संभावना**=कल्पना, अनुमान। **असंभावना** ऐसी कल्पना जिसके होनेका कभी अनुमान ही न हो सके। ☞'अ' जिस शब्दके पहले लगता है उसके अर्थका प्राय: अभाव सूचित करता है। संस्कृतके वैयाकरणोंने इस निषेध-सूचक अव्ययका प्रयोग इतने अर्थोंमें माना है—सादृश्य, अभाव, अन्यत्व अल्पता, अप्राशस्त्य और विरोध। यथा—**'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥'** (१) (वै० भूषणसार। नञर्थ निर्णय। ७) यहाँ अप्रशस्त और विरोधी दोनों अर्थ ले सकते हैं। पार्वतीजीका अनुमान वा कल्पना अप्रशस्त थी, वेदविरुद्ध थी, अत: दूषित थी। **असंभावना**=अप्रशस्तकल्पना वा अनुमान।-अविश्वास (वि० त्रि०)

अर्थ—श्रीशिवजीके भ्रमनाशक वचन सुनकर श्रीपार्वतीजीकी सब कुतर्ककी रचना मिट गयी॥ ७॥ उनको श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें प्रेम और विश्वास हुआ, कठिन 'असम्भावना' दूर हो गयी॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'सुनि सिव के भ्रम भंजन*……… *।'* इति। (क) *'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबि कर बचन मम।'* (११५) उपक्रम है और *'सुनि सिव के भ्रम भंजन*……… *।'* उपसंहार है। शिवजीके वचनोंको यहाँ चरितार्थ किया (अर्थात् घटित कर दिखाया, उनका साफल्य दिखाया)। वचन भ्रमभंजन हैं, अत: उनसे भ्रमका नाश हुआ। (ख) अब (आगे) मोह, संशय और भ्रम सबका नाश कहते हैं। यथा—(१) *'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥'* (चौ० १)—यह मोहका मिटना कहा। (२) *'तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ॥'* (चौ० २) यह संशय मिटना कहा। (३) *'सुनि*

सिव के भ्रम भंजन बचना। मिटि गै सब कुतरक कै रचना॥' यह भ्रमका नष्ट होना कहा। भ्रमसे ही कुतर्ककी रचना होती है, अतः भ्रमके नाशसे कुतर्ककी रचना मिट गयी। (ग) संशय और कुतर्कका नाश कहनेका भाव कि संशय सर्परूप है और कुतर्क लहरें हैं जो सर्पके काटनेपर विषके चढ़नेसे आती हैं। इस तरह सर्प और सर्पका विष चढ़नेसे जो लहरें उत्पन्न हुईं इन दोनोंका नाश हुआ अर्थात् कारण और कार्य दोनों न रह गये, यह जनाया। यथा—*'संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता।'* (७। ९३। ६) (गरुड़जीने अपने सम्बन्धमें जो *'कुतर्क बहु ब्राता'* कहा है वही यहाँ 'कुतर्क की रचना' है)। (घ) *'कुतरक कै रचना',* यथा—*'ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥'* (५०), *'बिष्नु जो सुर हित नर तनु धारी। सोइ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥ खोजै सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी॥'''''''''* ' इत्यादि, *'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि।'* इत्यादि। (ङ) *'भ्रम भंजन बचन'* वे ही हैं जिनमें श्रीरामजीका माहात्म्य लखाया है तथा जिनमें रामनाम-माहात्म्यपर अविश्वासका दोष दिखाया है।' (पं०) पिछली चौपाईकी व्याख्यामें ये वचन दिये हैं। प्रभुके परात्पर स्वरूपके लखानेवाले जितने वचन हैं वे सभी भ्रमभंजन हैं। वि० त्रि० के मतानुसार *'सुनि'* से चतुर्थ विनय *'अग्य जानि रिसि जनि उर धरहू। जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू॥'* के उत्तरकी (समाप्ति दिखलायी है।)

टिप्पणी—२ *'भइ रघुपति पद प्रीति'''''''''* ' इति। (क) भाव कि भ्रम और कुतर्क इत्यादि प्रीतिप्रतीतिके बाधक हैं। प्रतीति होनेसे प्रीति हुई और प्रतीति हुई श्रीरामस्वरूप जाननेसे (श्रीरामस्वरूपका जानना वे स्वयं आगे कह रही हैं—*'राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ'*); यथा—*'जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥'* (७। ८९। ७) (ख) *'दारुन असंभावना बीती'* इति। 'दारुण असंभावना' से चार वस्तुओंका बोध होता है—एक भावना, दूसरी सम्भावना, तीसरी असम्भावना और चौथी दारुन असम्भावना। इन चारोंके उदाहरण सुनिये—*'भइ रघुपति पद प्रीति'* रघुपति पदमें प्रीति होना भावना है। *'भइ''''''''प्रीति प्रतीती'* श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें प्रीति और प्रतीति दोनोंका होना सम्भावना है, और इन दोनोंका न होना असम्भावना है। श्रीरामजीको अज्ञानी मानना दारुण असम्भावना है। [(ग) मा० पी० प्र० सं० में इस प्रकार था—प्रतीतिमें भावना, प्रीतिमें सम्भावना सूचित हुई। ये दोनों एक ही हैं। कुतर्ककी रचनामें असम्भावना और परब्रह्ममें मनुष्यबुद्धि लाकर उनका अनादर करना इसमें दारुण असम्भावना सूचित की। ये दोनों एक-से हैं सो दोनों मिट गये'—दो-एक प्रसिद्ध टीकाकारोंने इसे लिया है, अतः इसे भी लिख दिया। (घ) श्रीरघुपतिपदमें प्रीति-प्रतीति होना दारुण असम्भावनाके नष्ट होनेका कारण है। यहाँ कारण और कार्य दोनों साथ ही हुए अर्थात् प्रीति-प्रतीति हुई और उसके होते ही साथ-साथ दारुण असम्भावना मिट गयी। अतएव यहाँ 'अक्रमातिशयोक्ति अलङ्कार' है।]

दोहा—पुनि पुनि प्रभुपद कमल गहि जोरि पंकरुह पानि।
बोलीं गिरिजा बचन बर मनहुँ प्रेमरस सानि॥११९॥

शब्दार्थ—पंकरुह=कमल।

अर्थ—बारम्बार प्रभु (श्रीशिवजी) के चरणकमलोंको पकड़कर और अपने करकमलोंको जोड़कर श्रीगिरिजाजी श्रेष्ठ वचन मानो प्रेमरसमें सानकर बोलीं॥११९॥

टिप्पणी—१ (क) *'पुनि पुनि''''''''गहि'* पुनः-पुनः चरणकमलोंको पकड़कर जनाती हैं कि इन्हींके प्रसादसे मैं सुखी हुई। यथा—*'सुखी भयउँ प्रभु चरन प्रसादा'* (आगे स्वयं कहती हैं)। सुखी हुई, अतः बारम्बार चरण पकड़ती हैं; यथा—*'सुनत बिभीषन प्रभु कै बानी। नहिं अघात श्रवनामृत जानी॥ पद अंबुज गहि बारहिं बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा॥'* (५। ४९) *'देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालि बधब इन्ह भइ परतीती॥ बार बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा॥'* (४, ७) पुनः, [बारम्बार चरण पकड़कर अपनी कृतज्ञता सूचित करती हैं। पुनः, श्रीरामजीके चरणोंमें प्रीति-प्रतीति होनेसे सुख

हुआ। बारम्बार चरण पकड़ना प्रेमकी दशा सूचित करता है। यथा—'*मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥*' (७। १२५। ४) '*पुनि पुनि मिलति परति गहि चरना। परम प्रेम कछु जाइ न बरना॥*' (१। १०२। ७) (मेनाजी)। (ख) श्रीरघुपति पदमें प्रीति-प्रतीति अचल होनेके सम्बन्धसे कविने '*गिरिजा*' नाम दिया (रा० प्र०)] (ग) श्रीशिवजीमें पार्वतीजीकी भक्ति मन, कर्म और वचन तीनोंसे यहाँ दिखाते हैं। चरण पकड़ना और हाथ जोड़ना यह कर्मकी भक्ति है। '*बोलीं गिरिजा बचन बर*' यह वचनकी भक्ति है और '*प्रेमरस*' से सानना यह मनकी भक्ति है। प्रेम होना मनका धर्म है।

अलङ्कार—प्रेमसे आनन्दमें मग्न होकर पार्वतीजीका बोलना उत्प्रेक्षाका विषय है। उनकी वाणी ऐसी मालूम होती है मानो प्रीति आनन्दसे मिश्रित हो। (प्रथम '*बचन बर*' कहा, जो उत्प्रेक्षाका विषय है, तब उत्प्रेक्षा की कि मानो प्रेमरसमें साने हैं)। अत: यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है। पार्वतीजीके हृदयमें श्रीराम-ब्रह्म-विषयक रति स्थायी भाव है। रघुनाथजीकी अलौकिक शक्ति, महिमा, गुण, स्वभावादि सुनकर उद्दीपित हो मति हर्षादि संचारी भावोंद्वारा बढ़कर हरिकथा सुननेके लिये बार-बार स्वामीके पाँव पड़ना, हाथ जोड़ना, अनुभावोंद्वारा व्यक्त हुआ है। (वीर)

नोट—१ श्रीपार्वतीजी, श्रीभरद्वाजजी और श्रीगरुड़जीके संशय एकही-से हैं। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने श्रीभरद्वाजमुनिके सन्देहनिवारणार्थ श्रीशिव-पार्वतीसंवाद ही सुनाया है। श्रीशिवजी और श्रीकागभुशुण्डिजीकी इस प्रसङ्गमें एकही-सी शैली जान पड़ती है। इस कैलाश-प्रकरणका भुशुण्डि-गरुड़-संवादसे मिलान करनेसे यह बात स्पष्ट हो जायगी।—

उमा-शंभु-संवाद		श्रीगरुड़-भुशुण्डि-संवाद
'*गिरिजा सुनहु राम कै लीला।* *सुरहित दनुज बिमोहन सीला॥*'	१	'*अस रघुपति लीला उरगारी।* *दनुज बिमोहन जन सुखकारी॥*'
'*निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी।* *प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥*'	२	'*जे मतिमंद मलिन मति कामी।* *प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी॥*'
'*जथा गगन घन पटल निहारी।* *झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥*'	३	'*जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा।* *सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा॥*'
'*चितव जो लोचन अंगुलि लाए।* *प्रगट जुगल ससि तेहिके भाए॥*'	४	'*नयन दोष जा कहँ जब होई।* *पीत बरन ससि कहँ कह सोई॥*'
'*उमा राम बिषयक अस मोहा।* *नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥*'	५	'*हरि बिषयक अस मोह बिहंगा।* *सपनेहु नहिं अज्ञान प्रसंगा॥*'
अग्य अकोबिद अंध अभागी। *काई बिषय मुकुर मन लागी॥*	६	'*माया बस मति मंद अभागी।* *हृदय जवनिका बहु बिधि लागी॥*'
मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। *रामरूप देखहिं किमि दीना॥*	७	'*ते किमि जानहिं रघुपतिहि,* *मूढ़ परे तम कूप।*'
जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। *तेहि किमि कहिय बिमोह प्रसंगा॥*'	८	'*यहाँ मोह कर कारन नाहीं।* *रबि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं॥*'
'*रघुपति कथा कहहु करि दाया॥*' '*बंदउँ पद धरि धरनि सिरु बिनय* *करउँ कर जोरि। बरनहु रघुबर बिसद जस*……' (१०९)	९	'*अब श्रीरामकथा अति पावनि*…… *सादर तात सुनावहु मोही।* *बार बार बिनवउँ प्रभु तोही॥*'
'*अस निज हृदय बिचारि* *तजु संसय भजु रामपद*……'	१०	'*अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय* *सकल।*' '*भजहु राम रघुबीर*……' (उ० ८८—९०)

'पुनि पुनि प्रभुपद कमल गहि जोरि पंकरुह पानि।	*११ 'ताहि प्रसंसि बिबिध बिधि सीस नाइ कर जोरि'*
बोलीं गिरिजा बचन बर मनहु प्रेम·········'	*१२ 'बचन बिनीत सप्रेम मृदु बोले'*
'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥'	*१३ 'तव प्रसाद मम मोह नसावा'*
'तुम्ह कृपालु सब संसय हरेऊ। राम स्वरूप जान मोहिं परेऊ॥'	*१४ 'संसय सर्प ग्रसेउ मोहिं ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता॥ तव सरूप गारुड़ि रघुनायक। मोहि जियायेउ जन सुखदायक॥*
'सुखी भइउँ तव चरन प्रसादा।'	*राम रहस्य अनूपम जाना'*

नोट—२ श्रीपार्वतीजी और श्रीभरद्वाजजीका इस सम्बन्धमें मिलान। यथा:—

श्रीपार्वतीजी	श्रीभरद्वाज मुनि
'पति हिय हेतु अधिक अनुमानी।	*१ करि पूजा मुनि सुजस बखानी।*
अजहूँ कछु संसय मन मोरे।	*२ नाथ एक संसय बड़ मोरे।*
बरनहु रघुबर बिसद जस, श्रुति सिद्धांत निचोरि।'	*३ कर गत बेद तत्व सब तोरे॥*
'तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना।'	*४ 'होइ न बिमल बिबेक उर, गुरु सन किये दुराव।'*
जेहि बिधि जाइ मोह भ्रम··········।	*५ अस बिचारि प्रगटउँ निज मोहू।*
तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना।	*६ हरहु नाथ करि जन पर छोहू॥*
अग्य जानि रिस उर जनि धरहू॥	*७ कहत सो मोहि लागत भय लाजा।*
प्रभु जे मुनि परमारथ बादी। कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी॥ सेष सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन··········॥	*८ राम नाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा॥*
तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥	*९ संतत जपत संभु अबिनासी।*
जौं अनीह ब्यापक बिभु कोऊ। कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ॥	*१० राम कवन प्रभु पूछउँ तोही। कहिय बुझाइ कृपानिधि मोही॥*
(जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि)	*११ (राम एक अवधेस कुमारा।)*
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति·········· ··········*नारि बिरह मति भोरि।*	*१२ तिन्ह कर चरित बिदित संसारा। नारि बिरह दुख लहेउ अपारा॥*
राम अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई॥	*१३ प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि।*
हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी।	*१४ जैसे मिटइ मोह भ्रम भारी।*
प्रथम सो कारन कहहु बिचारी॥	*१५ कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी॥*

ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥ १॥
तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ॥ २॥

शब्दार्थ—**सरदातप** (शरद् आतप)—शरद्-ऋतुके आश्विन-मासमें जब चित्रा नक्षत्र होता है तब घाम बहुत तीक्ष्ण होता है। इस घाममें हिरन काले पड़ जाते हैं। उन्हीं दिनोंकी तपनको शरदातप कहते हैं।

अर्थ—आपकी चन्द्रकिरण-समान वाणी सुनकर भारी मोहरूप शरदातप मिट गया॥ १॥ हे कृपाल! आपने मेरे सब संदेह हर लिये। मुझे श्रीरामजीका (यथार्थ) स्वरूप जान पड़ा॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी।'''''''''''* इति। यहाँ वाणीको चन्द्रकिरण कहकर मुखको शशि सूचित किया, यथा—*'नाथ तवानन ससि श्रवत कथा सुधा रघुबीर॥'* (७। ५२) वाणीका सुनना किरणका स्पर्श है। मोह शरद्-ऋतुका भारी घाम है। ☞ऊपर शिवजीने अपने वचनको *'रबिकर'* कहा है—*'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रमतम रबिकर बचन मम'* उससे रात्रिके दोष भ्रमतमको नाश किया और यहाँ उनके वचनको*'ससिकर सम'* कहा। ताप दिनका है सो चन्द्रकिरणसे नाश हुआ अर्थात् उसी वचनसे दिनके दोष भारी आतपरूपी मोहको नाश किया। पार्वतीजीने जो कहा था कि *'जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू'* उसीके सम्बन्धसे यहाँ कहा कि *'मिटा मोह सरदातप'''''''''।'* [पुनः, पूर्व जो कह आये हैं कि*'आननु सरद चंद छबि हारी॥'* (१। १०६। ८) *'ससि भूषन अस हृदय बिचारी। हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी॥'* (१०७। ४) उसीके सम्बन्धसे वचनको शशिकिरण-सम कहा। *'मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना'* और*'पुनि पतिबचन मृषा करि माना॥'* (१। ५९। २, सती-वचन), ये दोनों बातें शरदातप हैं।]

नोट—१ प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि श्रीशिवजी अपने वचनोंको *'रबिकर'* समान कहते हैं और पार्वतीजी उनके वचनोंको शशिकर-सम पाती हैं। इसका भाव यह जान पड़ता है कि शिवजी तो अपने वचनोंको भ्रमरूपी तमको दूर करनेवाला ही समझते हैं, पर श्रीपार्वतीजी उन वचनोंको तम दूर करनेवाले और विशेष प्रकारका शान्तिदायक भी पाती हैं, अतः चन्द्रकिरण मानती हैं, क्योंकि चन्द्रकिरणमें दोनों गुण हैं—तमनिवारक और आनन्ददायक भी। क्योंकि पार्वतीजी स्वयं कहती हैं—*'तुम्ह कृपाल सब संसउ हरेऊ।'* इतना काम सूर्यका था सो हो चुका। आगे चन्द्रकिरणका काम वे स्वयं स्वीकार करती हैं—*'नाथ कृपा अब गयउ बिषादा। सुखी भइउँ प्रभुचरन प्रसादा॥'* यही आह्लादका पाना है।

वि० त्रि०—१ भगवतीने शीतलताका अनुभव किया, अतः*'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी।'* कहा। शशिकरमें मृगतृष्णाका भ्रम भी नहीं होता, अन्धकार भी मिटता है और शरद्के चित्राकी कड़ी धूपका ताप भी मिटता है। २—विनती थी कि*'जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू'* सो अब कहती हैं कि*'मोह मिटा।'* चौथी विनयके उत्तरमें ही सब संशय मिट गया, अतः पाँचवीं विनय*'अजहूँ कछु संसय मन मोरें'* के उत्तरकी आवश्यकता नहीं रह गयी।

प० प० प्र०—पार्वतीजी कहती हैं कि भारी मोह मिटा और रामस्वरूपका ज्ञान हुआ पर यह स्वीकारिता मोहनाशाभास है; श्रीमहेशजीके डरसे दी हुई है, मोहका पूरा-पूरा नाश अभी हुआ नहीं। प्रमाण देखिये। आगे शिवजी कहते हैं—*'सती सरीर रहिहु बौरानी। अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी॥ तासु चरित सुनु भ्रमरुजहारी।'* (१। १४१। ४-५) शिवजीके जिन वचनोंसे डर गयीं वे ये हैं—*'राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी॥ अस संसय आनत उर माहीं। ग्यान बिराग सकल गुन जाहीं॥'* पार्वती-वचन और शिववाक्यका समन्वय इस प्रकार होता है। भारी मोहरूपी शरदातप मिट गया, भारी मोह नहीं है यह पार्वतीजीने कहा है। शिवजी कहते हैं—*'अजहुँ न छाया मिटति'* अर्थात् तुम्हें अब न तो भारी मोह है और न मोह ही, पर मोहकी छाया है। अतः दोनोंमें विरोध नहीं है।

उत्तरकाण्डमें भवानी भी स्वयं ही कहती हैं—*'तुम्हरी कृपा कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह।'* (५२)और फिर अन्तमें भी कहा है—*'नाथकृपा मम गत संदेहा।'* (१२९। ८) अतएव बालकाण्डमें यदि सम्पूर्ण मोहका नाश मान लें, तो फिर उत्तरकाण्डमें *'न मोह'*, *'गत संदेहा'* की आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः अर्थ यही करना होगा कि इस समय *'भारी मोह'* का मिटना कहकर जनाया कि अभी कुछ मोह है। उस मोहके मिटनेपर उत्तरकाण्डमें*'अब न मोह'* कहा। अर्थात् मोह नहीं रह गया। कुछ संदेह रह गया था वह भी जाता रहा, यह अन्तमें कहा गया। मोहका प्रभाव ही ऐसा है कि कुछ श्रवणके बाद ऐसा प्रतीत होता है कि वह जाता रहा, पर वह हृदयके कोनेमें कहीं छिपा रहता है और समय पाकर पुनः प्रकट हो जाता है। इसीसे तो शिवजीने गरुड़जीसे कहा है—*'तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ*

सतसंगा॥' (७। ६१। ४) [यह भी कह सकते हैं कि श्रीरामविषयक जो मोह रह गया था वह चरित सुननेपर मिट गया। अतः तब कहा ***'अब कृतकृत्य न मोह।'*** आगे जो ***'गत संदेहा'*** कहा गया वह संदेह श्रीगरुड़जी और भुशुण्डिजीके सम्बन्धके थे, उसका मिटना अंतमें कहा। उपक्रममें कहा है—***'बायस तन रघुपति भगति मोहि परम संदेह।'*** (५३) श्रीरामविषयक संशय भी रामचरित सुननेपर नहीं रह गया, यह ***'तुम्ह कृपाल सब संसउ हरेऊ।'*** से स्पष्ट है।]

टिप्पणी—२ ***'तुम्ह कृपाल सबु संसउ''''''''''''*** इति। (क) पार्वतीजीने संशय नाश करनेके लिये कृपा करनेकी प्रार्थना की थी। यथा—***'अजहूँ कछु संसउ मन मोरें। करहु कृपा बिनवौं कर जोरें॥'*** (१। १०९) अतः जब शिवजीने संशय नाश कर दिया तब उनको ***'कृपाल'*** विशेषण दिया। (ख) ***'सबु संसउ'*** अर्थात् अपार संशय जो हुआ था, यथा—***'अस संसय मन भयउ अपारा।'*** (१। ५१) वह सब हर लिया। संशय दूर होनेसे श्रीरामस्वरूप जान पड़ता है। अतः***'संसउ हरेऊ'*** कहकर तब***'रामस्वरूप जानि परेऊ'*** कहा। (जबतक संशय रहता है तबतक न तो स्वरूप ही देख पड़ता है और न दुःख ही दूर होता है। यथा-***'बार बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा॥ उपजा ग्यान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला॥''''''''''''मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा।'*** (४। ७) सुग्रीवका संशय दूर हुआ, तब रामस्वरूपकी प्राप्ति हुई और श्रीरामजीमें प्रीति प्रतीति हुई, जिससे विषाद दूर हुआ।) (ग) रामस्वरूप जानना ज्ञान है। संशय ज्ञानका नाशक है। यथा-***'अस संसय आनत उर माहीं। ग्यान बिराग सकल गुन जाहीं॥'*** इसीसे संशयमें रामस्वरूप नहीं जान पड़ा था। (घ) संशयसे कुतर्ककी उत्पत्ति है अर्थात् कुतर्क उसका कार्य है। पूर्व कुतर्कका नाश कह आये—***'मिटि गै सब कुतरक कै रचना।'*** और अब यहाँ संशयका नाश कहकर कार्य-कारण दोनोंका नाश दिखाया।

वि० त्रि०—शिवजीने कहा था कि ***'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥'*** सो कहती हैं कि ***'तुम्ह कृपालु सब संसउ हरेऊ। रामस्वरूप जानि मोहि परेऊ॥'—'राम सच्चिदानंद दिनेसा'*** से***'राम सो परमातमा भवानी'*** तक रामजीके स्वरूपका निरूपण शिवजीने किया है।

वि० टी०—श्रीपार्वतीजीने यथार्थ स्वरूप जो समझा उसे यों कह सकते हैं—***'वही राम दसरथ घर डोलै। वही राम घटघट में बोलै। उसी राम का सकल पसारा। वही राम है सब से न्यारा॥'***

नाथ कृपा अब गएउ बिषादा। सुखी भएउँ* प्रभु† चरन प्रसादा॥ ३॥
अब मोहि आपनि किंकरि जानी। जदपि सहज जड़ नारि अयानी॥ ४॥

अर्थ—हे नाथ! आपकी कृपासे अब (सब) दुःख दूर हो गया। हे प्रभो! मैं आपके चरणोंकी कृपासे सुखी हुई॥ ३॥ यद्यपि मैं स्वाभाविक ही जड हूँ, फिर स्त्री और अज्ञानी एवं बुद्धिहीन हूँ तो भी मुझे अपनी दासी जानकर अब—॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'नाथ कृपा अब''''''''''''*** इति। (क) ***'अब'*** अर्थात् जब आपने सब संशय हर लिया और मुझे श्रीरामस्वरूप जान पड़ा तब विषाद गया। तात्पर्य कि रामजीके मिलनेपर, उनका साक्षात्कार होनेपर विषाद नहीं रह जाता। यथा—***'बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेउ राम तुम्ह समन बिषादा॥'*** (४। ७) (ख)***'सुखी भयउँ प्रभु चरन प्रसादा'*** अर्थात् आपकी कृपासे संशय दूर होते हैं, संशय न रहनेसे श्रीरामस्वरूप जान पड़ता है, जिससे विषाद नहीं रह जाते और विषादके जानेसे सुख होता है—यह क्रमका भाव हुआ।

टिप्पणी—२ ***'अब मोहि आपनि किंकरि जानी''''''''''*** इति। (क) ☞ईश्वरको दास अति प्रिय है, इसीसे बारम्बार अपनेको दासी कहकर प्रश्न करती हैं। यथा—(१) ***'जौं मो पर प्रसन्न सुखरासी। जानिय सत्य मोहि निज दासी॥'*** (१। १०८। १) (२)***'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन***

*—भइउँ प्रभु-१७२१, १७६२। भइउ अब—छ०। भएउँ—१६६१, १७०४। †—अब-छ०। रा० प्र०।

तुम्हारी॥' (१। ११०। १) तथा (३)*'अब मोहि आपनि किंकरि जानी'।* [स्वामीको सेवक अति प्रिय होता है; यथा—*'सब के प्रिय सेवक यह नीती॥'* (७। १६), *'सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग॥'* (७। ८६) दूसरा भाव यह कि प्रत्येक बार पहले अपनेको दासी कहकर कथा-श्रवणमें अपना अधिकारी होना जनाकर तब प्रश्न किया है। (१। ११०। १) देखिये। या यों कहिये कि श्रीमेनाजीने शिवजीसे जो यह प्रार्थना की थी, वर माँगा था कि *'नाथ उमा मम प्रान सम गृह किंकरी करेहु। छमेहु सकल अपराध अब होइ प्रसन्न बरु देहु॥'* (१०१) उसीको बारम्बार स्मरण कराकर क्षमा-प्रार्थना करती हुई प्रसन्न करती हैं। (मा० पी० प्र० सं०)] (ख)*'जदपि सहज जड़ नारि अयानी'* इति। भाव कि जड़, स्त्री और अज्ञानी, ये तीनों कथाके अधिकारी नहीं हैं और मैं तो 'जड़, नारि और अयानी' तीनों ही हूँ; रही बात यह कि मैं दासी हूँ, दासीको अधिकार है चाहे वह कैसी ही क्यों न हो। [सतीसे शिवजीने कहा था*'सुनहि सती तव नारि सुभाऊ। संसय अस न धरिय उर काऊ॥'* सो सतीका शरीर छूटकर पार्वती-देह मिलनेपर भी वही संशय उठा, इससे अपना जड़त्व और अज्ञान मान रही हैं। (वि० त्रि०) पुनः यहाँ पार्वतीजी अपनेमें नीचानुसन्धान करके कहती हैं कि यद्यपि मैं स्त्री हूँ, *'अयानी'* अर्थात् चतुराईरहित हूँ, जड़ हूँ; सो यह सब (जो आपने अज्ञ, अंध इत्यादि कहा है) मुझमें होना उचित ही है। क्योंकि पर्वतराजसे उत्पन्न होनेसे मैं सहज ही जड़ हूँ ही, इससे कथाकी अधिकारिणी नहीं हूँ। स्त्री होनेसे अयानी होना भी ठीक है, अज्ञ होनेसे भी मेरा अधिकार नहीं। तथापि अपनी किंकरी जानकर आप अधिकारी मान सकते हैं। (रा० प्र०) ऊपर*'बोलीं गिरिजा बचन बर..........'* कहा, *'गिरिजा'* के सम्बन्धसे यहाँ 'जड़' कहना योग्य ही है। 'दूसरा सम' अलङ्कार है।] (ग) यहाँ *'अब मोहि आपनि किंकरि जानी'* कहा और पूर्व कहा था—*'जानिय सत्य मोहि निज दासी'।* इनमेंके *'जानी'* और *'जानिय'* में भाव यह है कि जिसे स्वामी अपना दास जाने-माने वही दास है। यथा—*'राम कहहिं जेहि आपनो तेहि भजु तुलसीदास।'* (दोहावली) *'किंकरि जानी'* अर्थात् अपनी दासी समझकर कहिये, मेरी जड़ता-अज्ञतापर दृष्टि न डालिये। (घ) *'अब'*—इसका सम्बन्ध आगेकी चौपाई—*'प्रथम जो मैं.........'* से है। भाव कि मोह, संशय और भ्रमकी निवृत्ति हो गयी, अपनी दासी जानकर अब जो मैंने प्रथम पूछा है वह कहिये। [**अयानी**=अनजान, अज्ञानी, बुद्धिहीन। यथा—*'रानी मैं जानी अयानी महा, पबि पाहन हूँ ते कठोर हियो है॥'* (क० २। २०) यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है।]

प्रथम जो मैं पूछा सोइ कहहू। जौं मो पर प्रसन्न प्रभु अहहू॥५॥
राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी। सर्बरहित सब उर पुर बासी॥६॥
नाथ धरेउ नर तनु केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू॥७॥

अर्थ—हे प्रभो! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो वही कहिये जो मैंने आपसे प्रथम पूछा है॥ ५॥ श्रीरामजी ब्रह्म, ज्ञानमय केवल चैतन्यस्वरूप, अविनाशी, (सबमें रहते हुए भी) सबसे अलग अर्थात् निर्लिप्त और सबके हृदयरूपी नगरमें रहनेवाले हैं॥ ६॥ उन्होंने नर-शरीर किस कारणसे धारण किया? हे धर्मकी ध्वजा (शङ्करजी)! यह मुझसे समझाकर कहिये॥७॥

टिप्पणी—१ *'प्रथम जो मैं पूछा.....'* इति। (क) प्रथम प्रश्न यह है—*'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी॥'* (१। ११०। ४) (ख)*'जौं मो पर प्रसन्न प्रभु अहहू'* से अपने ऊपर शिवजीकी प्रसन्नता जनायी। प्रसन्नताका चिह्न यह है—*'धन्य धन्य गिरिराजकुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी॥ पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥ उमा प्रस्न तव सहज सुहाई। सुखद संत संमत मोहि भाई॥'* (१। ११२। ६-७, १। ११४। ६) यह तो हुई पूर्वकी प्रसन्नता और आगेकी प्रसन्नता यह है—*'हिय हरषे कामारि तब संकर सहज सुजान। बहु बिधि उमहिं प्रसंसि पुनि बोले कृपानिधान॥'* (१। १२०)

पं० श्रीराजबहादुर लमगोड़ा-१ 'पार्वतीजीने फिर इसी बातपर जोर दिया है कि रामके मानवी चरित्रों

और उनके पारमात्मिक व्यक्तित्वका एकीकरण किया जाय, इसीलिये आप रामचरितमानसके हर प्रसङ्गमें यह एकीकरण पायेंगे। कविका कमाल है कि वह इस तरह नाटककला और महाकाव्यकलाका एकीकरण भी बड़ी सुन्दरतासे करता जाता है।

२ ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे भी तुलसीदासजीके समयमें यह प्रश्न बड़े महत्त्वका था; क्योंकि इस्लामी धर्म निर्गुण ही रूपमें ईश्वरको मानता है और तुलसीदासजीके समयमें उसी मतावलम्बियोंका शासन था। (उस समय श्रीनानकजी और श्रीकबीरजीका पंथ भी जोर पकड़ रहा था। काशीजीमें कबीर साहेबकी शब्दी साखी आदिमें कई ऐसी सुननेमें आती हैं जिनमें श्रीदाशरथीरामको ब्रह्मसे अन्य माना हुआ है। उसीका खण्डन यहाँ स्वयं शङ्करजी त्रिभुवनगुरुसे कराया गया है।)

टिप्पणी—२ *'राम ब्रह्म चिन्मय······'* इति। (क) ब्रह्म सब भूतोंको उत्पन्न करता है। यथा—**'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।'** (तैत्ति०भृगुवल्ली १। १) अर्थात् ये सब प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले प्राणी जिनसे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिनके सहयोगसे, जिनका बल पाकर ये सब जीते हैं, जीवनोपयोगी क्रिया करनेमें समर्थ होते हैं और महाप्रलयके समय जिनमें विलीन हो जाते हैं, उनको वास्तवमें जाननेकी इच्छा कर। वे ही ब्रह्म हैं। पुनश्च **'यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे।'**

ऐसा ब्रह्म नरतन कैसे धरता है ? [पुनः ब्रह्म तो बृहत् है, यथा—**'अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।'** तो उसका एक एवं एकदेशीय और वह भी छोटा-सा शरीर कैसे हो सकता है? (मा० पी० प्र० सं०)] जो चिन्मय है वह प्राकृत दृष्टिगोचर कैसे होता है? [जो 'चिन्मय' है अर्थात् योगियोंके चित्तमें जिसकी झलक किञ्चित् आती है, ऐसा चिन्मय ब्रह्म स्थूल (शरीरधारी) कैसे होगा ? (मा० पी० प्र० सं०)] जो अविनाशी है वह नाशवान् नरतन (मनुष्य) कैसे होता है? *'सर्ब रहित सब उर पुर बासी'* अर्थात् जो सर्वरहित है उसका सम्बन्ध जब सबके साथ हुआ तो वह सर्वरहित कैसे हुआ? जो सबके उरमें बसता है, वह जब मनुष्य हुआ तब सबके उरपुरका वासी कैसे हुआ? [पुनः, जो सर्वरहित है वह मनुष्य हो सबसे मित्रता आदिका व्यवहार कैसे करेगा ? वह किसीका मित्र, किसीका शत्रु कैसे होगा? सब उरवासी अलख एक पुरका वासी लक्षितगति कैसे होगा ? (मा० पी० प्र० सं०)] ☞(ख) श्रीपार्वतीजीने प्रथम प्रश्नमें ब्रह्मको निर्गुण कहा था, यथा—*'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी॥'* अर्थात् वे ब्रह्मको निर्गुण ही मानती थीं। अब वे यहाँ निर्गुण ब्रह्मके लक्षण कहती हैं कि वह चिन्मय, अविनाशी, सर्वरहित और सर्व-उर-पुरवासी है। पुनः भाव कि पूर्व ब्रह्मको निर्गुण कहा था, अब श्रीरामजीका स्वरूप जान गयी हैं, इसीसे अब श्रीरामजीको ही*'ब्रह्म चिन्मय······'* कहती हैं। [ऊपर जो कहा था कि*'राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ'* उसका स्पष्टीकरण करके बताया कि रामस्वरूप किस प्रकार जान पड़ा। अब यह संशय नहीं रह गया कि राम-रघुपति ब्रह्म हैं या नहीं। प० प० प्र०]।

टिप्पणी—३ *'नाथ धरेउ नर तन······'* इति (क) श्रीरामस्वरूपमें जो संदेह था वह तो निवृत्त हो गया, यथा—*'तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ॥'* रही बात ब्रह्मके अवतारकी, यथा—*'ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर······'* (१। ५०) इसमें अभी सन्देह है, इसीसे ब्रह्मके अवतारका हेतु पूछती हैं। [(ख) 'नर-शरीर' तो अनादिभूत प्रभुका है तो वहाँ नरदेह धरना कैसा! परंतु शिवजीको कथाका प्रसङ्ग कहनेमें यह प्रश्न बड़ा उपयोगी हुआ। क्योंकि भगवान् विष्णु भी रघुनाथजीका अवतार धारण करते हैं, अतः इनमें 'नरतन धरना' कहना ठीक है, नारद-शापके कारण द्विभुज हुए। साकेतविहारीका नित्य नररूप है, उनके प्रति *'नर तन धरेउ'* नहीं कहा जा सकता। वे तो जैसे-के-तैसे प्रकट हो गये। इनका नित्य नररूप मनुमहाराजके वरदानमें कहेंगे।' (रा० प्र०) (ग)*'नर तन'* से पाञ्चभौतिक तनका तात्पर्य है। यथा—**'पृथिव्यादिमहाभूतैर्जन्यते प्रादुर्भवतीति पुरुषः नरः।'** (इत्यमरविवेके) भाव यह कि दिव्यरूपसे प्राकृतरूप क्यों हुए? (वै०) *'धरेउ केहि हेतू'* में

भाव यह है कि ब्रह्म, चिन्मय आदि विशेषणयुक्तको तो नरतन धरनेकी कोई आवश्यकता जान नहीं पड़ती और प्रयोजनके बिना कार्यमें प्रवृत्ति नहीं होती। नरतन तो भवपार उतरनेके लिये है, राम तो नित्यमुक्त हैं, उन्हें तो भवपार उतरना नहीं है। (वि० त्रि०) (घ) 'यहाँ '*समुझाइ कहहु*' कहा। इसीसे श्रीशिवजी श्रीरामावतारके कई हेतु बतावेंगे; क्योंकि साकेतविहारी तो नराकार ही हैं सो वे तो पूर्वरूपसे ही मनुमहाराजके हेतु प्रकट हुए। उसी लीलाको करनेके लिये जब नारायणादि भगवान्‌ने रामरूप धारण किया तब वे, चतुर्भुजसे द्विभुज हुए। इत्यादि सन्धि है। इसी कारण शिवजीने इस प्रश्नको अङ्गीकार किया।' (वै०)] (ङ) '*मोहि समुझाइ कहहु*' का भाव कि ब्रह्मके अवतारका हेतु मेरी समझमें नहीं आता। मैं जड़ हूँ; स्त्री हूँ; अज्ञानी हूँ। अतएव मुझे समझाकर कहिये जिसमें समझमें आ जाय। (च)'*बृषकेतू*' इति। सन्देह दूर करना धर्म है और आप धर्मकी ध्वजा हैं, आपका धर्म पताकामें फहरा रहा है। अथवा, भाव कि मुझे समझाकर कहिये। यद्यपि मैं जड़ हूँ, अज्ञानी हूँ, तथापि आप तो वृषकेतु हैं, वृष (बैल) ऐसे अज्ञानीको ज्ञानी बनाके आप उसे अपने पताकापर बिठाए हुए हैं।

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि 'पूर्वका प्रश्न और तरहका है और वही प्रश्न यहाँ और तरहसे किया है। प्रथम श्रीपार्वतीजी यह सिद्धान्त निश्चित किये थीं कि ब्रह्म निर्गुण है, वह सगुण होता ही नहीं; अतएव ब्रह्म राम कोई और हैं। यह बात '*जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि*' पार्वतीजीके इन वचनोंसे सिद्ध होती है। यह सुनकर शिवजी नाराज हुए। यथा-'*एक बात नहिं मोहि सुहानी।*'.........'*कहहिं सुनहिं अस अधम नर*'......' इत्यादि। और उन्होंने निर्गुण-सगुण दोनोंकी एकताकर सब सिद्धान्त दाशरथी राममें ही पुष्ट किये, यथा—'*राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना*' से '*पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रगट परावर नाथ*' कहकर तब यह कहा कि '*सोई*' रघुकुलमणि रामचन्द्रजी हैं। जब इस प्रकार शिवजीने समझाया तब उनको निश्चय हुआ कि ये ही राम ब्रह्म हैं, यथा—'*राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ।*' वही अब यहाँ पार्वतीजी कह रही हैं कि'*राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी*......' इत्यादि हैं, श्रीरामजीका यह स्वरूप है यह मैं जान गयी। अब कथा और देह-धारणका कारण सुननेकी इच्छा है।

नोट—प्रश्न तो बहुत-से हैं किंतु मुख्य उनमें यही है कि 'क्या निर्गुण भी सगुण हो सकता है?' अर्थात् वे निर्गुण और सगुणको ब्रह्मके दो अलग-अलग रूप समझती थीं। इसीसे उन्हें यह संदेह हुआ था। परंतु शिवजीके भ्रमभंजन वचनोंसे उनका यह भ्रम कि निर्गुण और सगुण दो हैं मिट गया। वे समझ गयीं कि अव्यक्त एवं प्राकृतगुणरहित होनेसे ब्रह्म निर्गुण कहलाता है और व्यक्त दिव्यगुणविशिष्ट होनेसे वही सगुण कहा जाता है। अतएव अब दूसरा मुख्य प्रश्न यह रह जाता है कि 'ब्रह्म किस कारण नरतन धारण करता है?' यह अभी समझमें नहीं आया। इसीसे वे कहती हैं कि प्रथम जो मैंने पूछा उसीको कहिये। ☞'*प्रथम*' शब्दके कई अर्थ होते हैं—'सबसे पहला नम्बर १' 'पूर्व'। '*प्रथम*' का अन्वय 'जो' और '*कहहु*' दोनोंके साथ हो सकता है। '*जो*' के साथ लेनेसे भाव होगा कि जो मैंने पूछा था कि'*प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी॥*' वही कहिये। यह कहकर फिर उसी प्रश्नको यहाँ दूसरे शब्दोंमें दोहराती हैं-'*नाथ धरेउ नर तनु केहि हेतू।*' और दूसरा अर्थ यह होगा कि 'जो मैंने पूर्व पूछा है उसीको कहिये' पर उसमेंसे इस प्रश्नका उत्तर समझाकर कहिये कि'*राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी। सर्बरहित सब उर पुर बासी॥ नाथ धरेहु नर तन केहि हेतू।*' भाव कि अन्य प्रश्नोंके उत्तर विस्तारसे समझाकर कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

'*कहहु*' के साथ '*प्रथम*' का अन्वय करनेसे अर्थ होगा कि 'जो मैंने पूछा है उसे प्रथम कहिये' अर्थात्'*प्रथम सो कारन कहहु बिचारी*' से '*औरौ रामरहस्य अनेका। कहहु नाथ*' तकके प्रश्नोंका उत्तर प्रथम कहिये। भाव कि'*जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई*' उसको चाहे पीछे कहिये, चाहे जब कहिये पर जो पूछा है उसको अवश्य पहिले कहिये। और इन पूछे हुओंमें भी 'नर-तन धारन' करनेका हेतु समझाकर अर्थात् विस्तारसे कहिये जिसमें समझमें आ जाय, शेषका उत्तर विस्तारसे कहनेकी आवश्यकता नहीं।

उमा बचन सुनि परम बिनीता। रामकथा पर प्रीति पुनीता॥ ८॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजीके परम विनम्र वचन सुनकर और श्रीरामकथापर उनका पवित्र प्रेम (देख)॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) '*बोलीं गिरिजा बचन बर मनहुँ प्रेम रस सानि॥*' (१। ११९) उपक्रम है और '*उमा बचन सुनि*……' उपसंहार है। उमाके वचन '*बर*' (श्रेष्ठ) हैं, 'प्रेमरसमें साने' हुए हैं और '*परम बिनीत*' एवं '*पुनीत*' हैं। '*परम बिनीत*' हैं अर्थात् अत्यन्त नम्र वा नम्रतायुक्त हैं। यथा—'*अब मोहि आपनि किंकरि जानी। जदपि सहज जड़ नारि अयानी॥*', '*जौं मो पर प्रसन्न प्रभु अहहू।*' (ख) '*प्रीति पुनीता*' निश्छल प्रीति, यथा—'*भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छल बरजित प्रीती॥*' (१। १५३। ७), '*सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत॥*' (१। २२९) '*सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता। अधिक सनेह समात न गाता॥ प्रीति पुनीत भरत कै देखी। सकल सभा सुख लहेउ बिसेषी॥*' (१। २९१। १-२) यहाँ कथामें उमाजीकी स्वार्थरहित प्रीति है और स्वार्थ ही छल है, यथा—'*स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥*' (२। ३०१। ३) (ग) पुनः उमाजीके वचन बाहरसे विनीत हैं, भीतर (हृदयमें) पुनीत प्रीति है और '*बोलीं गिरिजा बचन बर*' यह वचनकी पवित्रता है। इस प्रकार पार्वतीजीके वचनोंमें उनकी मन, वचन और कर्मसे निश्छलता दिखायी।

नोट—१ '*पुनीत*' कहकर जनाया कि प्रीति अपुनीत (अपवित्र) भी होती है। स्वार्थ रखकर जो प्रेम किया जाता है वह पवित्र नहीं है किंतु अपवित्र है। कलिमें प्रायः अपुनीत प्रीति देखनेमें आती है। यथा—'*प्रीति सगाई सकल गुन बनिज उपाय अनेक। कल बल छल कलिमलमलिन डहकत एकहि एक॥*' (दो० ५४७), *दंभ सहित कलिधरम सब छल समेत व्यवहार। स्वारथ सहित सनेह सब रुचि अनुहरत अचार॥*' (दो० ५४८), 'धातु वाद *निरुपाधि बर सदगुरु लाभ सुमीत। देव दरस कलिकाल मैं पोथिन दुरे सभीत॥*' (दो० ५५७) (दोहावली)। इन उद्धरणोंसे पवित्र और अपवित्र प्रेम भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। २ 'उमा' इति। '**उँ=शिवं मातीति उमा**' अर्थात्—उ (शिवजी) को जो जाने वह उमा। '*उमा*' सम्बोधनका भाव कि आज मेरा कहा माननेसे तुम्हारा यह नाम सत्य हुआ। (रा० प्र०) पूर्व '*उमा*' शब्दकी व्युत्पत्ति विस्तारसे लिखी गयी है। मेना माताने इनको तप करनेसे रोका था इसीसे यह नाम पड़ा था। '*चलीं उमा तप हित हरषाई*' (७३। ७) में देखिये।

दो०—हिय हरषे कामारि तब संकर सहज सुजान।
बहु बिधि उमहि प्रसंसि पुनि बोले कृपानिधान॥ १२० (क)॥
सो०—सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल।
कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़॥ १२० (ख)॥
सो संबाद उदार जेहिं बिधि भा आगे कहब।
सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर अनघ॥ १२० (ग)॥
हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित।
मैं निज मति अनुसार कहौं उमा सादर सुनहु॥ १२० (घ)॥

अर्थ—तब कामदेवके शत्रु स्वाभाविक ही सुजान श्रीशिवजी हृदयमें प्रसन्न हुए और पुनः उमाजीकी बहुत तरहसे प्रशंसा करके दयासागर शिवजी फिर बोले। हे भवानी! निर्मल रामचरितमानसकी सुन्दर माङ्गलिक कथा सुनो जिसे भुशुण्डिजीने विस्तारपूर्वक कही और पक्षियोंके स्वामी श्रीगरुड़जीने सुनी। वह उदार (भुशुण्डि-गरुड़) संवाद जिस प्रकार हुआ वह मैं आगे कहूँगा। (अभी) श्रीरामचन्द्रजीके परम सुन्दर पवित्र अवतार और उनके चरित सुनो। भगवान्‌के गुण, नाम, कथा और रूप (सभी) अपार, अगणित और अमित हैं। मैं अपनी बुद्धिके अनुसार कहता हूँ। हे उमा! सादर सुनो॥ (१२०)॥

टिप्पणी—१ *'हिय हरषे कामारि……'* इति। (क) पार्वतीजीके वचन प्रेमरससाने हैं, इसीसे शिवजीको हर्ष हुआ। यथा—*'सबके बचन प्रेम रस साने। सुनि रघुनाथ हृदय हरषाने॥'* (७। ४७) पुनः, कथामें पुनीत प्रेम देखकर हर्ष हुआ। (ख) *'कामारि'* इति। ☞स्मरण रहे कि कथाके प्रारम्भमें (इस प्रकरणके प्रारम्भसे) कवि बार-बार *'कामारि'* विशेषण देते आ रहे हैं। यथा *'बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरे सरीर सांतरस जैसे॥'*, *'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥'* *'हिय हरषे कामारि……'* ऐसा करनेका तात्पर्य यह है कि कथाके वक्ताको कामरहित, शान्त, सुजान और रामभक्त होना चाहिये। जो वक्ता ऐसा होता है उसीकी कथासे श्रोताओंका कल्याण होता है। [पंजाबीजी लिखते हैं कि *'कामारि'* कहनेका भाव यह है कि शिवजीने इनकी प्रशंसा कुछ इनके रूप आदिपर रीझकर नहीं की वरं च इनकी प्रीति देखकर अथवा कुतर्करूपी कामनाएँ—वासनाएँ दूर कर दीं, अतएव *'कामारि'* विशेषण दिया।' बैजनाथजीका मत है कि शंकरजी अकाम हैं, वे अकाम प्रश्न जानकर प्रसन्न हुए।' अथवा कामारि हैं, भक्ति देखकर ही हर्षित होते हैं (वि० त्रि०)।] (ग) *'संकर सहज सुजान'* इति। शंकर अर्थात् कल्याणकर्ता कहा, क्योंकि पार्वतीजीका भ्रम भंजनकर उन्होंने उनका कल्याण किया और कथा कहकर जगन्मात्रका कल्याण करनेको हैं। हृदयकी प्रीति देखकर हर्षित हुए; इसीसे *'सुजान'* कहा। यथा—*'अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना॥'* (३। २७), *'करुनानिधान सुजानु सीलु सनेह जानत रावरो।'* (१। २३६), *'देखि दयाल दसा सब ही की। राम सुजान जानि जन जी की॥'* (२। ३०४) इत्यादि। (घ) *'सहज सुजान'* का भाव कि किसी लक्षणको देखकर अथवा किसी और विद्यासे हृदयकी जानी हो सो बात नहीं है किन्तु आप स्वाभाविक ही जानते हैं (वि० त्रि० का मत है कि *'सहज सुजान'* हैं, अतः विनीत वचनसे सुखी होते हैं)। (ङ) *'बहु बिधि उमहिं प्रसंसि पुनि'* इति। *'पुनि'* देहलीदीपक है। *'प्रसंसि पुनि'* और *'पुनि बोले'*। *'प्रसंसि पुनि'* से जनाया कि जैसे पूर्व बहुत प्रकारसे प्रशंसा की थी, वैसे ही फिर की। यथा—*'धन्य धन्य गिरिराजकुमारी।'* (१। ११२। ६) से *'कहत सुनत सबकर हित होई।'* (१। ११३। १) तक। *'पुनि बोले'* कहा; क्योंकि एक बार बोलना पूर्व कह आये हैं। यथा—*'करि प्रनाम रामहिं त्रिपुरारी। हरषि सुधासम गिरा उचारी॥'* (१। ११२। ५) से लेकर *'अस संसय आनत उर माहीं॥'* (१। ११९। ६) तक। बीचमें पार्वतीजी बोली थीं; यथा—*'बोलीं गिरिजा बचन बर……।'* (१। ११९) से *'मोहिं समुझाइ कहहु बृषकेतू। उमा बचन……'*(१। १२०। ८) तक। अब पुनः शंकरजी बोले। (च) *'कृपानिधान'* का भाव कि उमाजीपर कृपा करके रामचरित सुनाना चाहते हैं। यथा—*'सुनु सुभ कथा भवानि……'* और *'संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥'* (१। ३०। ३) पुनः [प्रशंसा करनेका भाव कि धन्य हो कि इतना कष्ट सहनेपर भी जबतक शङ्काकी निवृत्ति न हुई तबतक प्रश्न करना न छोड़ा। *'कृपानिधान'* विशेषण दिया; क्योंकि उमाजीके बहाने जगन्मात्रपर कृपा कर रहे हैं। (रा० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'सुनु सुभ कथा भवानि……'* इति। (क) कथा शुभ अर्थात् मङ्गलकारिणी है। यह विशेषण श्रीरामकथाके लिये बारम्बार आया है। यथा—*'सुनि सुभ कथा उमा हरषानी।'* (७। ५२), *'यह सुभ संभु उमा संबादा।'* (७। १३०), *'मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।'* (१। १०) (ख) *'सुनु सुभ कथा भवानि'* उपक्रम है और *'सुनि सुभ कथा उमा हरषानी॥'* (७। ५२) उपसंहार है। *'यह सुभ संभु-उमासंबादा'* पर संवादकी इति है। (ग) *'रामचरितमानस बिमल'* इति। *'बिमल'* विशेषण अन्तमें देकर *'कथा'* और *'रामचरितमानस'* दोनोंके साथ सूचित किया। कथा विमल है, यथा-*'बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा॥'* (१। ३५। ६), *'बिमल कथा हरिपद दायनी। भगति होइ सुनि अनपायनी॥'* (७। ५२) जिस कथामें रामचरितमानसका वर्णन है वही कथा निर्मल है एवं वही ग्रन्थ विमल है। (*'बिमल'* में दोनों भाव हैं अर्थात् यह स्वयं अपने स्वरूपसे निर्मल है और दूसरोंके मनको निर्मल करनेवाला है)। (घ) *'कहा भुसुंडि बखानि……'* उपक्रम है और *'उमा कहिउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई॥'* (७। ५२। ६) उपसंहार है। तात्पर्य कि जहाँसे शिवजी कथा कहने लगे वहींसे श्रीकाकभुशुण्डिजीका भी प्रारम्भ है और जहाँ शिवजीकी (कथाकी समाप्ति है वहीं भुशुण्डिजीको

(कथाकी) समाप्ति है। काकभुशुण्डि-गरुड़-संवाद उमामहेश्वर-संवादके पूर्व ही हुआ है, इसीसे शिवजी कहते हैं—'*कहा भुसुंडि बखानि*""""।' याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद पीछे हुआ, इसीसे इनको न कहा। '*कहौं सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद*""""।' (१। ४७) याज्ञवल्क्यजीके इस वचनसे उमा-शम्भु-संवादका इनके संवादके पूर्व होना स्पष्ट है।

टिप्पणी—३'*सो संबाद उदार जेहि*""""' इति। (क) ☞जहाँसे कथा छोड़ी थी वहाँसे पुनः प्रारम्भ करते हैं।'*राम नाम गुन चरित सुहाए। जनम करम अगनित श्रुति गाए॥ तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी॥*' (१। ११४। ३—५) पर कथा छोड़कर बीचमें श्रीरामस्वरूपका ज्ञान कराने लगे थे, अब पुनः वहींसे कथा (प्रसङ्ग) उठाते हैं।'*सुनहु राम अवतार*' यह जन्म है, शेष'*हरिगुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित*""""' यह वही है जो'*राम नाम गुन चरित सुहाए।*""""' है। (ख) उदार=सुन्दर, यथा—'**सुन्दरं प्रोक्तमुत्कृष्टं पूजितं तथा**' (इतित्रिलोचनः) ['*उदार*' के अनेक अर्थ **हैं—उदार**=बड़ा। अर्थात् यह संवाद बड़ा है, कहने लगेंगे तो तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर रह ही जायगा। पुनः, **उदार**=उत्कृष्ट। क्योंकि इससे विहगनायक श्रीगरुड़जीका मोह मिटा। पुनः, **उदार**=पात्रापात्र और देशकालादिका विचार न करके याचकमात्रको उसकी इच्छापूर्वक दान देनेवाला। इस संवादमें भुशुण्डिजीके वचनोंमें भक्तिका पक्ष है और भक्ति ऊँच-नीच सभीका उद्धार करती है। यथा—'**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥**' (गीता ९। ३१), '**मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥**' (गीता) रा० प्र० कार '*उदार*' को '**भुशुण्डि**' का विशेषण भी मानते हैं। भाव यह कि अविद्यारूपी दारिद्र्य जिनके आश्रमसे योजनभरकी दूरीपर रहता है ऐसे उदार भुशुण्डिजीका संवाद।] [(ग) '*जेहि बिधि भा*' अर्थात् उस संवादका कारण और जिस तरह गरुड़जी भुशुण्डिजीके पास गये और पूछा, इत्यादि। यथा—'*तेहि केहि हेतु काग सन जाई। सुनी कथा मुनि निकर बिहाई॥ कहहु कवन बिधि भा संबादा। दोउ हरिभगत काग उरगादा॥*' (७। ५५)] (घ) '*आगे कहब*' अर्थात् अभी प्रथम तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ। आगे उत्तरकाण्डमें पार्वतीजीके पूछनेपर कहा है। यथा—'*अब सो कथा सुनहु जेहि हेतू। गयउ काग पहिं खगकुलकेतू॥*' (७। ५८। २) से [भुशुण्डि-गरुड़-संवाद 'आगे कहूँगा', इस कथनमें श्रोताकी प्रीतिकी परीक्षा लेनेका भाव है, यह अभिप्राय उत्तरकाण्डके '*उमा कहिउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई॥ कछुक रामगुन कहेउँ बखानी। अब का कहौं सो कहहु भवानी॥*' (७। ५२। ६-७) इस शिववाक्यसे स्पष्ट है। यदि वे पूछती हैं तो सिद्ध होगा कि रामकथापर विशेष प्रीति है। अतः आगे उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि'*मति अनुरूप कथा मैं भाषी। जदपि प्रथम गुप्त करि राखी॥ तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघुपति कथा सुनाई॥*' यह संवाद ही था जो प्रथम गुप्त कर रखा था। प० प० प्र०।] (ङ) '*सुनहु राम अवतार चरित*""""' इति। अर्थात् राम-अवतार सुनो, अवतारके पश्चात् चरित सुनायेंगे सो सुनना।'*परम सुंदर अनघ*' का भाव कि जैसे श्रीरामजी परम सुन्दर और अनघ हैं, वैसे ही उनके चरित्र भी हैं। यथा—'*यह प्रभु चरित पवित्र सुहावा। कहहु कृपाल काग कहँ पावा॥*' (७। ५५। १) संवादका सुन्दर होना तो पहले ही कह आये हैं।

टिप्पणी—४ '*हरि गुन नाम अपार*""""' इति। (क) इससे जनाया कि गुण, नाम, कथा, रूप और चरित्र यह सब कहेंगे। (ख) इस सोरठेका तात्पर्य यह है कि ज्ञानी लोग भगवान्‌के गुण-नामादिको सुनकर, उनको अनन्त समझकर आश्चर्य नहीं करते। यथा—'*राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार। सुनि आचरज न मानिहहिं जिन्ह के बिमल बिचार॥*' (१। ३३) यह आश्चर्य सबको होता है, इसीसे संशय हो जाता है। अतएव अन्तमें यह कहकर सबके संशयकी निवृत्ति करते हैं। इसी तरह गोस्वामीजीने '*राम अनंत अनंत गुन*""""'। कहकर '*एहि बिधि सब संसय करि दूरी*' कहा है। (ग)'*निज मति अनुसार*'-(१। ११४। ५) '*तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी*' में देखिये। '*अपार अगनित अमित*' (१। ११४। ३-४)

देखिये। (घ)'*सादर सुनहु*' अर्थात् मन, बुद्धि और चित्त लगाकर सुनो। कथा सादर (आदरपूर्वक) सुननी चाहिये, इसीसे चारों संवादोंमें आदरसे सुननेको कहा गया। प्रमाण (१। ११४। २) में देखिये। सादर न सुननेसे उसका प्रभाव नहीं पड़ता।

वि० त्रि०—१—'*सुनु*' इति। '*अजहूँ कछु संसउ मन मोरे*' इस पाँचवें विषयका उत्तर पाँचवें '*सुनु*' शब्दसे सूचित करते हैं। भाव यह कि प्रसंग प्राप्त बचे-बचाये संशयके निरसनके लिये गरुड़-भुशुण्डि-संवाद अन्तमें कहेंगे। २—'*कहहु पुनीत राम गुन गाथा*' इस छठे विनयका उत्तर देते हैं, कहते हैं कि वह संवाद उदार है। अर्थात् इस कथाका ऐसा माहात्म्य है कि यदि काक प्रेमसे कथा कहने बैठे, तो विहङ्गनायक, साक्षात् प्रभुकी विभूति गरुड़ सुननेके लिये आ जावें। ३—'*बरनहु रघुबर बिमल जस*' इस सातवें विनयका उत्तर देते हैं कि'*हरि गुन नाम अपार*······' । हरिके असीम होनेसे उनके नाम और गुण भी अपार हैं। कथा और रूप अगणित हैं, ऐसी अवस्थामें मति अनुसार ही कहा जा सकता है।

कैलास-प्रकरण समाप्त हुआ।

अवतार-हेतु-प्रकरण

सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाए। बिपुल बिसद निगमागम गाए॥ १॥
हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥ २॥

शब्दार्थ—**बिपुल**=संख्या या परिमाणमें बहुत अधिक। **बिसद** (विशद)=उज्ज्वल, निर्मल। **इदमित्थं**=इदं (यह) **इत्थं** ('**अनेन प्रकारेण इत्थं**' अर्थात् इसी प्रकार है)=यह इसी प्रकार है (ऐसा)।

अर्थ—हे गिरिजे! सुनो। श्रीहरिके चरित सुन्दर हैं, अगणित हैं, अत्यन्त विशद हैं और वेदशास्त्रोंने गाये हैं (एवं वेदशास्त्रोंने ऐसा कहा)॥ १॥ श्रीहरिका अवतार जिस कारणसे होता है, वह (कारण) यह है, ऐसा ही है, यह कहा नहीं जा सकता॥ २॥

टिप्पणी—१ '*सुनु गिरिजा हरिचरित*······' इति। (क) ☞प्रथम शिवजीने कहा कि'*सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल*', फिर कहा कि '*सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर अनघ*' तत्पश्चात् कहा कि '*हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित। कहौं उमा सादर सुनहु।*' और यहाँ पुनः कहते हैं '*सुनु गिरिजा हरिचरित*······' । बारम्बार 'सुनु' क्रिया भी दी है। इसका भाव यह है कि प्रथम जो रामचरितमानसकी कथा सुननेको कहा वह समष्टिकथन है और उसके बाद व्यष्टिकथन है (अर्थात् उन्होंने प्रथम सम्पूर्ण मानस सुनानेको कहा, फिर उसके विभाग करके कहा) कि श्रीरामावतार-चरित सुनो, हरिके गुण, नाम, कथा और रूप सुनो तथा हरिचरित सुनो। बालचरितको आदि देकर ये सब चरित पृथक्-पृथक् कहे हैं, इसीसे 'सुनु' क्रिया सभीके साथ लिखी। [चारों बार सुनना मानसकथाके लिये ही जानो। ये चारों गुण, नाम, कथा, रूप रामचरितमानसहीमें आ गये, अन्यत्र नहीं हैं। पुनः बार-बार कहना ताकीद प्रकट करता है, जो वीप्सा अलङ्कारका लक्षण है वा, शिवजी बारम्बार '*सुनु*' कहकर उनको सुननेके लिये सावधान कर रहे हैं। अन्तमें यहाँ '*गिरिजा*' सम्बोधन देकर जनाते हैं कि सावधानतामें गिरिके समान अचल रहना। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'चार कल्पोंके रामावतारके हेतु कहनेका विचार है, इससे चार बार 'सुनु' क्रियाका उपयोग किया।' '*हरि चरित*'—यहाँ '*हरि*' नाम दिया; क्योंकि विष्णुभगवान् और क्षीरशायी श्रीमन्नारायणका भी (शापवश) श्रीरामावतार धारणकर वह लीला करना कहा जाता है और आगे श्रीरामचरितमानसमें प्रथम इन्हींके अवतारका हेतु कहा गया है। (श्रीरामतापिनी आदिके भाष्यकार बाबा श्रीहरिदासाचार्यजीके मतानुसार श्रीरामजीको छोड़ और कोई श्रीरामावतार नहीं लेता। शाप चाहे विष्णुको हो, चाहे क्षीरशायीको पर अवतार सदा श्रीराम ही लेते

हैं, विष्णु आदि नहीं)। *'हरि'* शब्द श्रीराम, श्रीविष्णु और श्रीमन्नारायण सभीका बोधक है। श्रीपार्वतीजीने तो श्रीरामके अवतारका हेतु पूछा है, परंतु शिवजी **'हरिअवतार हेतु'** कह रहे हैं। *'हरि'* शब्दसे ग्रन्थकारकी बड़ी ही सावधानता सूचित हो रही है। वस्तुतः श्रीरामजी तो नित्य नराकार ही हैं; उनके सम्बन्धमें नरतन-धारण करनेका प्रश्न ही व्यर्थ होता; इस बातको शिवजी चार अवतारोंकी कथा कहकर बतावेंगे। श्रीसाकेतविहारी श्रीरामचन्द्रजीका अवतार लेनेके पूर्व ही नरतनहीमें श्रीमनुशतरूपाजीको दर्शन देना कहकर यह बात निश्चय करा देंगे। (मा० पी० प्र० सं)] (ख) *'हरिचरित'* इति। ☞नाम, रूप, गुण, कथा और चरित सभीकी प्रधानता दिखानेके लिये सबोंको (एक-एक जगह) आदिमें लिखते हैं।*'हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित'* में गुणको प्रथम कहा।*'रामनाम गुन चरित सुहाए।......'* में नामको प्रथम कहा। *'सुनु सुभ कथा भवानि......'* में कथाको,*'जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥'* में रूपको और*'सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाए'* में चरितको प्रथम कहा। (ग)*'बिपुल बिसद निगमागम गाए।'* अर्थात् इतने अधिक हैं कि अनादि वेद कबसे गाते चले आते हैं पर अन्त नहीं मिलता। यथा—*'रामचंद्रके चरित सुहाए। कल्प अनेक जाहिं नहिं गाए॥'*

वि० त्रि०—*'रघुपति कथा कहहु करि दाया'* इस आठवें विनयका उत्तर देते हैं। *'सुहाए'* बहुवचन देकर जनाया कि एक कल्पकी कथा न कहकर कई कल्पकी कथा कहेंगे, यह दिखलानेके लिये कि लीलाएँ सामान्यतः एक रूपकी होती हुई भी विस्तारमें प्रत्येककी विशेषता है।

टिप्पणी—२ *'हरि अवतार हेतु जेहि......'* इति। (क) पूर्वोक्त सब प्रसङ्गोंके कहनेकी प्रतिज्ञा करके अब पार्वतीजीके प्रश्न-विशेष*'नाथ धरेउ नर तन केहि हेतू'* जो अवतारका हेतु है, उसका उत्तर देते हैं। **'इदमित्थं'** यही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता अर्थात् कहते नहीं बनता; क्योंकि अवतारके हेतु अनेक हैं। यथा—*'राम जनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका॥'* (१। १२२। २) अतएव हेतुका निश्चय करते नहीं बनता।

* 'इदमित्थं कहि जाइ न' इति *

१—भाव यह कि निश्चयपूर्वक कोई आचार्य यह नहीं कह सकता कि अमुक अवतारका अमुक ही कारण है। एक ही अवतारके अनेक कारण कहे जाते हैं, फिर भी कोई यह नहीं कह सकता कि बस यही कारण इस अवतारके हैं, अन्य नहीं। श्रीसाकेतविहारीजीका ही अवतार ले लीजिये। इसका हेतु क्या कहेंगे? मनुशतरूपा-तप, या भानुप्रताप-रावणका उद्धार, या सुर-विप्र-संतकी रक्षा? फिर ये सभी कारण हैं या नहीं कौन जानता है? ग्रन्थान्तरोंमें इस अवतारके लिये श्रीकिशोरीजीकी प्रार्थना भी पायी जाती है। अतएव यह कोई नहीं कह सकता कि बस यही कारण है। (मा० पी० प्र० सं०)

२ 'यही और ऐसा ही भगवदवतारका कारण है' यह इसलिये नहीं कहा जा सकता कि सामान्यतः जो कुछ कारण अवतारका देख पड़ता है उससे कुछ विलक्षण ही कारण तब मालूम पड़ने लगता है जब अवतार लेकर भगवान् लीला करने लगते हैं। उस समय कहना तथा मानना पड़ता है कि अवतारका जो कारण अवतारसे पहले कहा गया वह गौण था और जो लीला देखनेसे मालूम पड़ा वह अनुमानतः मुख्य है। शङ्का हो सकती है कि तब 'मुख्य कारण ही बतलाकर अवतार क्यों नहीं होता, गौण ही क्यों विख्यात किया जाता है?', इसका उत्तर एक तो इस प्रकार हो सकता है कि '**परोक्षवादो ऋषयः परोक्षो हि मम प्रियः**' (भागवत) इस अपनी परोक्षप्रियताके कारण भगवान् अपने अवतारके मुख्य प्रयोजनको छिपाते हैं। दूसरे, यह कि अवतारके जिन कारणोंमें तात्कालिक जगत्-हित या किसी एक प्रधान भक्तका हित समाया रहता है उन्हें (इन्हीं कारणोंसे) गौण कह सकते हैं तथा वही विख्यात भी किये जाते हैं। और जिनसे अनन्तकालके लिये सर्वसाधारण जगत्का हित होता रहता है, उन्हें मुख्य कह सकते हैं और उन मुख्य कारणोंका गोपन कार्यसमाप्तितक इसलिये रहता है कि जितनी सुविधा और उत्तमता गोपनमें

रहती है उतनी सर्वसाधारणमें प्रकट कर देनेसे नहीं होती—'**अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विज**' (भागवत) के अनुसार हरिके अवतारोंका अन्त तो लग ही नहीं सकता, अतः परम प्रसिद्ध अवतारोंमेंसे भी कुछका ही भगवत्कृपासे अपनी समझमें आये हुए गौण तथा मुख्य कारणोंको लिखता हूँ।

अवतार	गौण कारण	मुख्य कारण
१ मत्स्यावतार	मनुको प्रलयका कौतुक दिखाना-मात्र (एक भक्तका कार्य सिद्ध हुआ)।	मनुद्वारा सम्पूर्ण वनस्पति-बीजोंको संग्रह कराकर रक्षा करनेसे जगत्मात्रका हित हुआ।
२ कूर्मावतार	मन्दराचल धारणकर समुद्रमंथनद्वारा अमृत निकालना	१ शङ्करजीको कालकूट पिलाकर श्रीरामनाम तथा रामभक्तिकी महिमा प्रकट करना। २ भृगु (वा दुर्वासाके) शापसे समुद्रमें गुप्त हुई लक्ष्मीको प्रकट करना। ३ ऋषि यज्ञ करनेमें सामग्रियोंके अभावका दुःख न उठावें, एतदर्थ कामधेनु और कल्पवृक्षका उत्पन्न करना; इत्यादि।
३ वराहावतार	पातालसे पृथ्वीका उद्धार तथा हिरण्याक्षका वध।	१ यज्ञके स्रुवा-चमसादि कौन पात्र किस आकार और किस प्रमाणके होने चाहिये, इस विवादको मिटानेके लिये अपने दिव्य चिन्मय विग्रहसे समस्त यज्ञाङ्गोंको प्रकट करना। २ भूदेवीकी अपने अंग-संगकी इच्छा पूरी करके नरकासुर नामक पुत्र उत्पन्न करना जिसके द्वारा पूर्व वरदानिक सोलह हजार एक कुमारियोंका संग्रह कराया गया और कृष्णावतारमें उन्हें अपनी महिषी बनाया गया इत्यादि।
४ नृसिंहावतार	प्रह्लादकी रक्षा और हिरण्यकशिपुका वध।	जगत्हितके लिये अभिचारादि तन्त्रोंको प्रकट करना तथा भगवान् शंकरकी इच्छाकी पूर्ति।
५ वामनावतार	बलिका निग्रह जिसमें केवल इन्द्रादिका ही हित था; क्योंकि मनुष्य आदि तो राजा बलिके धार्मिक राज्यसे पीड़ित न थे।	ब्रह्माद्वारा तिरस्कृत एवं ब्रह्मकटाहमें रुकी हुई हैमवती गङ्गाका उद्धार करके उन्हें अपने पदरजके द्वारा पापनाशकत्वादि अनेक गुण प्रदान करते हुए ब्रह्माके कमण्डलुमें स्थापित करना था, जिन्हें कि भगीरथ महाराजने अपने तपके प्रभावसे प्रवाहित किया। गङ्गाजीसे अनन्त प्राणियोंका कल्याण होता ही रहता है।
६ श्रीरामावतार	रावण-कुम्भकर्णादिका अत्याचार।	अपने अनेक दिव्य गुण-प्रदर्शनार्थ तथा ज्ञान और धर्म-मार्गोंको सुगम करनेके लिये; यथा—'**धर्ममार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः** (अथर्वणे)
७ श्रीकृष्णावतार	शिशुपाल-दन्तवक्र आदि अनेक क्षत्रियाधमों, राक्षसों आदिका विनाश करनेके लिये।	उलझनमें पड़ी हुई धर्मकी अनेक ग्रन्थियोंको सुलझाने और अपने प्रेम तथा भक्तपरवशत्वादि गुणोंको प्रकट कर दिखानेके लिये।

इसी प्रकार भगवान्के प्रत्येक अवतारोंमें कुछ-न-कुछ गूढ़ रहस्य रहता ही है। (वे० भू०)

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी॥ ३॥
तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥ ४॥
तस मैं सुमुखि सुनावौं तोही। समुझि परै जस कारन मोही॥ ५॥

शब्दार्थ—**अतर्क्य**=तर्कना करनेयोग्य नहीं; जिसमें तर्ककी गति नहीं; जिसपर तर्क-वितर्क न हो सके। =जिसके विषयमें किसी प्रकारकी विवेचना न हो सके; **अचिन्त्य**=तर्कशास्त्रसे न सिद्ध होनेयोग्य। यथा—*'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥'* (३४१। ७) तर्क—**'अनिष्टप्रसंज्ञकः तर्कः।'** (इति तत्त्वानुसंधाने) जो युक्ति प्रतिवादीके अनिष्टकी सिद्धि करे। (मा० त० वि०) 'जब किसी वस्तुके सम्बन्धमें वास्तविक तत्त्व ज्ञात नहीं होता तब इस तत्त्वके ज्ञानार्थ (किसी निगमनके पक्षमें) कुछ हेतुपूर्ण युक्ति दी जाती है, जिसमें विरुद्ध निगमनकी अनुपपत्ति भी दिखायी जाती है। ऐसी युक्तिको तर्क कहते हैं। तर्कमें शङ्काका भी होना आवश्यक है। **अनुमान**=अटकल, विचार, अन्दाज। विशेष दोहा (११८। ४) में देखिये। **सुमुखि**=सुन्दर मुखवाली।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी बुद्धि, मन और वाणी तीनोंसे अतर्क्य हैं। हे सयानी! सुनो। यह हमारा मत है॥ ३॥ तो भी सन्त, मुनि, वेद और पुराण अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार जैसा कुछ कहते हैं॥ ४॥ और जैसा कुछ कारण मुझे समझ पड़ता है, हे सुमुखि! मैं तुमको वैसा सुनाता हूँ॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) *'राम अतर्क्य……'* यथा—**'यतो वाचो निर्वतन्ते। अप्राप्य मनसा सह।'** (तैत्ति० २। ४; २। ९) श्रीरामजी अतर्क्य हैं, अतएव उनके अवतारके हेतु नाम, गुण, लीला इत्यादि सभी अतर्क्य हुए। (ख) *'मत हमार अस सुनहि सयानी'* इति। **सयानी**=चतुर; जो थोड़ेहीसे बहुत अच्छी तरह समझ ले। *'सयानी'* का भाव कि तुम चतुर हो, इस बातको समझ सकती हो, अतः समझ जाओ कि जब श्रीरामजी अतर्क्य हैं तब उनके अवतारादि कब तर्कमें आ सकते हैं? तर्कशास्त्रद्वारा उनको कोई कैसे समझ सकता है? [(ग) *'बुद्धि मन बानी'*—मन संकल्प-विकल्प करता है, बुद्धि निश्चय करती है और वाणी निश्चित सिद्धान्तको कहती है; परंतु श्रीरामजीके विषयमें किसीकी भी बुद्धि, मन और वाणी कुछ भी नहीं कर सकते, सभी असमर्थ हैं। पुनः तार्किक बुद्धिसे अनुमान, मुनि मनसे मनन करते हैं, वेद स्वयं वाणी है और सबसे उत्कृष्ट है सो ये तीनों भी तर्क नहीं कर सकते। (द्वि० स०) श्रुति भी है—**'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमः।'** (केन० १। ३) चक्षुसे ज्ञानेन्द्रिय, वाग्‌से कर्मेन्द्रिय, **'मनः विद्मः विजानीमः'** से बुद्धि और चित्तका कार्य बताया। इनमेंसे किसीकी पहुँच राममें नहीं, अतः श्रुतिमाताने कहा है कि **'तर्कः=अप्रतिष्ठः'**। यही *'राम अतर्क्य'* से यहाँ कह दिया है। (प० प० प्र०)]

वि० त्रि०—१—*'अतर्क्य……'* का भाव कि यदि तर्ककी गति होती तो उनके अवतारके विषयमें **'इदमित्थं'** कुछ कहा जा सकता था। बुद्धि, मन और वाणीद्वारा ही तर्ककी प्रक्रिया होती है, सो बुद्धि आदिकी गति समीप (परिच्छिन्न) पदार्थोंमें होती है। अनादि, अनन्त पदार्थ बुद्धिमें आ ही नहीं सकता। कि पुनः राम सर्वाश्चर्यमय देवमें (यथा—**'सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्'**) २—उमाने अपनेको *'जदपि सहज जड़ नारि अयानी'* कहा था, अतः शिवजी उनका प्रोत्साहन करते हुए *'सयानी'* कहकर सम्बोधन करते है।

टिप्पणी—२ *'तदपि संत मुनि बेद पुराना।……'* इति। (क) अर्थात् यद्यपि ये सब जानते हैं कि श्रीरामजी अतर्क्य हैं तथापि मति-अनुसार कहते हैं। यथा—*'सारद सेस महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान॥'* (१। १२), *'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहें बिनु रहा न कोई॥'* (ख) *'जस कछु'* का भाव कि भगवान्‌के चरित अनन्त हैं, उनमेंसे ये कुछ कहते हैं। *'स्वमति अनुमाना'* का भाव कि सब कहनेका सामर्थ्य किसीमें नहीं है, सब अपनी-अपनी बुद्धिके अनुकूल कहते हैं। सब कहनेका सामर्थ्य किसीको नहीं है, इसीसे शिवजी अपने लिये भी ऐसा ही कहते हैं। यथा—*'मैं निज मति अनुसार कहौं उमा सादर सुनहु।'* (१। १२०)

टिप्पणी—३ *'तस मैं सुमुखि सुनावौं……'* इति। (क) *'तस मैं……तोही……'* दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर है। अर्थात् जैसा कुछ संत-मुनि आदि कहते हैं वैसा और जैसा कुछ कारण मुझे समझ पड़ता है वैसा; तात्पर्य कि संत आदिका भी मत कहूँगा और उनसे पृथक् जो मेरा मत है वह भी कहूँगा। इसपर प्रश्न उठता है कि शिवजीका

इन सबोंसे पृथक् अपना मत क्या है? उत्तर यह है कि जय-विजय, जलंधर, रुद्रगण और वैवस्वत मनुका प्रकरण सब वेदपुराणोंमें मिलता है, वेदपुराणोंका कहा हुआ है। भानुप्रतापका प्रसङ्ग शिवजीने अपनी समझसे कहा है। यह प्रसङ्ग वेद-पुराण और मुनियोंके ग्रन्थोंमें कहीं नहीं मिलता। [यह कथा केवल शिवजी जानते हैं क्योंकि जहाँ कही यह कथा मिलेगी वहाँ उमा-शम्भु-संवादमें ही मिलेगी, अन्यत्र नहीं; अतएव यह मत शिवजीका है—*'रामचरितसर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा॥'* (७। ११३, लोमशवाक्य-मा० पी० प्र० सं०)। धनराज शास्त्री कहते थे कि भानुप्रताप अरिमर्दन कल्पवाली कथा अगस्त्यरामायणमें है जो तिब्बतमें लामाके पुस्तकालयमें है। उसमें सप्त सोपान हैं। परंतु उसमें राजा कुन्तल और सिन्धुमतिका दशरथ और कौशल्या होना बतलाया गया है। विशेष (७। ५२। १—४) *'रामचरित सतकोटि अपारा'* में देखिये] (ख) *'सुमुखि'* इति। श्रीरामकथाका प्रश्न किया है; अत: *'सुमुखि'* सम्बोधन किया। (ग) शिवजीने जैसी प्रतिज्ञा की वैसा ही कहा भी। प्रथम *'संत मुनि…… जस कछु कहहिं'* यह है तब *'समुझि परै जस कारन मोही'* इसी क्रमसे प्रथम सन्त-मुनि, वेदादिका कहा हुआ हेतु कहकर तब पीछे अपनी समझमें जो हेतु है वह कहेंगे।

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥ ६॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥ ७॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥ ८॥

शब्दार्थ—**अनीति**=नीतिके विरुद्ध, अन्याय, अत्याचार। **सीदहिं**-सीदना (सं सीदति। क्रि० अ०)= दु:ख पाना, कष्ट झेलना, पीड़ित होना। यथा—*'तुलसिदास सीदत निसि दिन देखत तुम्हारि निठुराई।'* (विनय०) *'सीदत साधु साधुता सोचति बिलसत खल हुलसति खलई है'* (विनय०)। **पीरा**=पीड़ा, दु:ख।

अर्थ—जब-जब धर्मकी हानि होती है। नीच अधर्मी अभिमानी असुर बढ़ते हैं॥ ६॥ और ऐसा अन्याय करते हैं कि जो वर्णन नहीं किया जा सकता तथा ब्राह्मण, गौ, देवता और पृथ्वी पीड़ित होते हैं॥ ७॥ तब-तब दयासागर प्रभु तरह-तरहके शरीर धरकर सज्जनोंकी पीड़ा हरते हैं॥ ८॥

नोट—१ *'जब जब होइ……'* इति। (क) गीता आदिमें भी यही हेतु कहा है। यथा—'**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥**' (गीता ४। ७) '**इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति॥ तदा तदाऽवतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्॥**' (सप्तशती ११। ५४-५५) अर्थात् जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है। तब-तब ही हे अर्जुन! मैं स्वयं ही (अपने संकल्पसे, सम्पूर्ण ईश्वरीय स्वभावका त्याग न करते हुए अपने ही रूपको देव-मनुष्यादिके सदृश आकारमें करके उन देवादिके रूपोंमें) प्रकट होता हूँ। जब-जब संसारमें दानवी बाधा उपस्थित होगी, तब-तब अवतार लेकर मैं संहार करूँगी। (ख) बहुत कालसे धर्मानुष्ठान चलता रहता है, फिर काल पाकर धर्मानुष्ठान करनेवालोंके अन्त:करणमें कामनाओंका विकास होनेसे अधर्मकी उत्पत्ति होती है। ऐसे अधर्मसे जब धर्म दबने लगता है और अधर्मकी वृद्धि होने लगती है, तब अधम अभिमानी असुर बढ़ने लगते हैं। अधम अभिमानी अर्थात् प्रभुके आश्रितोंको पीड़ा देनेवाले (वि० त्रि०।)

टिप्पणी—१ *'जब जब होइ'* से सूचित हुआ कि प्रभुके अवतारके लिये कोई कालका नियम नहीं है, जभी धर्मकी हानि होती है तभी अवतार होता है। इससे जनाया कि प्रभु सदा धर्मकी रक्षा करते हैं। *'बाढ़हिं असुर……'* यह धर्मकी हानिका हेतु है। अधम अभिमानी असुरोंकी बाढ़, उनकी उन्नति ही इसका कारण है। असुर धर्मकी हानि करते हैं; यथा—*'जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥'* (१। १८३। ५) (*'हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहिं कवनि मिति॥'* (१। १८३)—यही अधमता है)। किस प्रकार धर्मकी हानि करते हैं, यह आगे कहते हैं *'करहिं अनीति जाइ……।'*

टिप्पणी—२ *'करहिं अनीति……'* इति। (क) *'बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी'* यह जो ऊपर कहा था उसके अधम और अभिमानी दोनों विशेषणोंका भाव यहाँ कहते हैं। अधम हैं, इसीसे अनीति करते हैं। बलका अभिमान है, इसीसे *'सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी।'*, *'करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी'* का उदाहरण,

यथा—*'बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।.....'* (१। १८३) इत्यादि। *'सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी'* का उदाहरण, यथा—*'जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥'* (१। १८३। ६) *'सुरपुर नितहि परावन होई॥'* (१। १८०। ८) *'परम सभीत धरा अकुलानी॥'* (१। १८४। ४) (यज्ञ-यागादि ही मुख्य धर्म हैं। उनके मुख्य साधन हैं ब्राह्मण और गाय। ब्राह्मणमें मन्त्र प्रतिष्ठित हैं और गोमें हवि प्रतिष्ठित है। देवता इनके द्वारा यज्ञ होनेसे बलिष्ठ हैं। यथा—*'करिहहिं बिप्र होम मख सेवा। तेहि प्रसंग सहजेहि बस देवा॥'* (१। १६९। २), *'तिन्ह कर मरन एक बिधि होई। कहौं बुझाइ सुनहु अब सोई॥ द्विजभोजन मख होम सराधा। सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा॥ छुधाछीन बलहीन सुर सहजेहि मिलिहहिं आइ॥'* (१। १८१) अतः असुर इन्हींको पीड़ा पहुँचाते हैं। अधम, अभिमानीका भार पृथ्वी नहीं सह सकती। अतः वह भी पीड़ित होती है। (वि० त्रि०) (ख) *'धरनी'* को अन्तमें कहनेका भाव कि अनीति करना, विप्र-धेनु-सुरको पीड़ा देना, यही 'धर्मकी हानि' है। धर्मकी हानिसे धरणीको पीड़ा होती है; यथा—*'अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥'* (१। १८४। ४)—(*'जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला॥'* (१। १८३ ५) से *'अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी.....॥'* (१। १८४। ४) तक धर्मकी हानि इत्यादिका वर्णन है। इससे 'धर्मकी हानि' खूब समझमें आ जायगी।)

टिप्पणी—३ *'तब तब प्रभु.....'* इति। (क) अर्थात् शरीर धारणकर धर्मकी रक्षा करते हैं, धर्मकी रक्षा करके सज्जनोंकी पीड़ा हरते हैं। तात्पर्य कि धर्मकी हानिमें सज्जनोंको पीड़ा होती है। यथा *'देखत जग्य निसाचर धावहिं। करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं॥'* (१। २०६। ४) *'सीदहिं'* का अर्थ पीड़ा देते हैं (वा, पीड़ा पाते हैं), यह यहाँ स्पष्ट कर दिया। (ख) असुरोंके मारनेके सम्बन्धसे *'प्रभु'* और विविध शरीर धरने तथा सज्जनोंकी पीड़ा हरनेके सम्बन्धसे *'कृपानिधि'* कहा। अवतारका हेतु कृपा है ही। [विविध शरीर धारण करनेमें *'प्रभु'* और सज्जनोंकी पीड़ा हरनेमें *'कृपानिधि'* कहा। *'प्रभु'* शब्द सामर्थ्यका द्योतक है। तरह-तरहके शरीर धारण करना यह 'प्रभुत्व' गुण है, प्रभुताका काम है; और पीड़ा हरन करना दया-करुणा जनाता है। (ग)*.....'धरि बिबिध सरीरा'* *'मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥ जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥'* (६। १०९) अर्थात् मीन, कमठ, सूकर, नृसिंह, वामन, परशुराम, कृष्ण इत्यादि, जब जैसा कारण आ पड़ा वैसा शरीर धारण कर लिया। मा० त० वि० कारका मत है कि विविध रीतिसे शरीर धारण करते हैं। जैसे कि खरदूषण-संग्राममें*'देखत परसपर राम'* और रङ्गभूमिमें*'रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा॥'* (१। २४१)]

नोट—२ प्रभु किस लिये अवतार लेते हैं। सज्जनोंकी पीड़ा हरनेके लिये। यह यहाँ कहा। और 'किस तरह पीड़ा हरते हैं ?' यह आगे कहते हैं—*'असुर मारि.....।'*

दो०—असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजन्म कर हेतु॥१२१॥

शब्दार्थ—**थापना**=स्थापित करना, जमाना; अभय करके पुनः बसाना। **राखना**=रक्षा करना। **सेतु**=पुल; मर्यादा।

अर्थ—असुरोंको मारकर देवताओंको स्थापित करते, अपने वेदोंकी मर्यादा रखते और जगत्में अपने निर्मल उज्ज्वल यशको फैलाते हैं।—यह श्रीरामजन्मका हेतु है॥१२१॥

नोट—१ ☞ मिलान कीजिये—'**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥**' (गीता ४। ८) अर्थात् साधु पुरुषोंका उद्धार और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करने तथा धर्मस्थापन करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ। मानसके दोहेमें 'असुरोंका मारना' प्रथम कहा है; क्योंकि इनके नाशसे ही देवताओंकी तथा वेद-मर्यादाकी रक्षा हो जाती है और गीतामें '**परित्राणाय साधूनाम्**' प्रथम कहा है। तब दुष्टोंका नाश और धर्मसंस्थापन। हाँ, यदि हम*'हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा'* जो पूर्व कहा है उसको भी यहाँ ले लें तो गीताका मानससे मिलान हो जाता है। जैसे गीतामें भगवान्ने अपने

अवतारोंका उद्देश्य और प्रयोजन बतलाते हुए पहले '**परित्राणाय साधूनाम्**' कहा और तत्पश्चात् '**विनाशाय च दुष्कृताम्**' कहा, वैसे ही यहाँ '*हरहिं सज्जन पीरा*' कहकर '*असुर मारि*' कहा। '*थापहिं*' का भाव कि असुर देवताओंके अधिकार छीनकर स्वयं इन्द्र आदि बन बैठते हैं, उनके लोकोंको छीन लेते हैं इत्यादि। भगवान् अवतार लेकर उनको उनके पदोंपर स्थापित करते हैं। यथा—'*आयसु भो लोकनि सिधारे लोकपाल सबै तुलसी निहाल कै कै दिये सरखतु हैं।*' (क० लं० ५८)

नोट—२ '*असुर मारि थापहिं सुरन्ह*......' का भाव यह है कि जैसे रोगीकी सड़ी हुई एक उँगलीके विषको सारे शरीरमें फैलनेसे रोकनेके लिये वैद्य उसे शस्त्रसे काटते हैं, इसी प्रकार दुष्टोंका संहार जगत्‌की रक्षाके लिये है। राजनीतिक्षेत्रमें इससे शिक्षा मिलती है कि प्रजाका पालन राजाका प्रधान कर्तव्य है।

टिप्पणी—१ (क) इस दोहेमें चार कार्य बताये। असुर पृथ्वीका भार हैं, उनको मारकर पृथ्वीका काम किया अर्थात् उसका भार उतारा। '*थापहिं सुरन्ह*' अर्थात् देवताओंको अपने-अपने लोकोंमें बसाया, यह देवकार्य किया। '*राखहिं निज श्रुति सेतु*' निजश्रुतिसेतुकी रक्षा करते हैं यह अपना काम करते हैं, और '*जग बिस्तारहिं बिसद जस*' संसारमें यश फैलाते हैं, यह संतोंका कार्य करते हैं; क्योंकि '*सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥*', *एक कल्प एहिं हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार। सुररंजन सज्जन सुखद हरि भंजन भुबिभार॥*' (१। १३९) अवतार लेकर प्रभु ये चार कार्य करते हैं। (ख) '*असुर मारि*' का कारण पूर्व कह आये कि '*बाढ़हिं असुर*' असुर बढ़ गये हैं, अतः उनका नाश करते हैं। '*सीदहिं बिप्रधेनु सुर धरनी*' के सम्बन्धसे '*थापहिं सुरन्ह*' और '*जब जब होइ धरम कै हानी*' के सम्बन्धसे '*राखहिं निज श्रुति सेतु*' कहा। (ग) '*निज श्रुति सेतु*' का भाव कि वेदकी मर्यादा भगवान्‌की बाँधी हुई है। श्रुतिसेतुका प्रमाण, यथा—'***कोपेउ जबहिं बारिचरकेतू। छन महुँ मिटे सकल श्रुति सेतू॥ ब्रह्मचर्य ब्रत संजम*** **नाना। धीरज धरम ग्यान बिग्याना॥ सदाचार जपु जोग बिरागा। सभय बिबेक कटकु सब भागा॥**' (१। ८४) '*श्रुतिसेतु पालक राम तुम्ह जगदीश*......।' (२। १२६) (घ) '*जग बिस्तारहिं*......।' भाव कि अपने निर्मल यशसे जगत्‌को पवित्र करते हैं। यथा—'***चरित पवित्र किये संसारा***' (ङ) ☞यहाँ सब अवतारोंका हेतु संक्षेपसे कह दिया। आगे इसीको विस्तारसे कहेंगे।

नोट—३ '*राम जन्म कर हेतु*' इति। (क) चौ० ६, ७, ८ में साधारणतः सब अवतारोंका हेतु कहा, अब दोहेमें केवल श्रीरामजन्मका हेतु कहते हैं। (रा० प्र०) (ख) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'भूभारहरणादि हेतु तो सभी अवतारोंमें हैं, परंतु उज्ज्वल यश रामावतारहीमें है। यथा—मच्छ, कच्छ, वराहमें यश थोड़ा, स्वरूपता सामान्य, निषिद्ध कुल; नृसिंह भयङ्कर ऐसे कि देवगण भी उनके सम्मुख न जा सके; वामन स्वरूपताहीन, छली, वञ्चक; परशुराम अकारण क्रोधी; कृष्णमें चपलता, छलादि; बौद्ध वेदनिन्दक इत्यादि सबके यशमें दाग है। अमल यश राम-अवतारहीमें है। यथा—'**सत्येन लोकाञ्जयति द्विजान् दानेन राघवः। गुरूञ्छुश्रूषया वीरान् धनुषा युधि शस्त्रवान्॥ सत्यं दानं तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम्। विद्या च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे॥**'(वा० रा० २। १२। २९, ३०) पुनः—'**यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्। तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टपादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये॥**' (भा० ९। ११। २१) पुनः—'**महाराज श्रीमन् जगति यशसा ते धवलिते पयःपारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते। कपर्दी कैलासं कुलिशभृद् भौमं करिवरं कलानाथं राहुः कमलभवनोहंसमधुना॥**' (हनुमन्नाटक)

[नोट—उपर्युक्त श्लोक हमें वाल्मीकीय और हनुमन्नाटकमें नहीं मिले। हाँ ! वाल्मीकीयमें किष्किन्धाकाण्ड सर्ग २४ में ताराके वचन श्रीरामप्रति ये अवश्य हैं—'**त्वमप्रमेयश्च दुरासदश्च जितेन्द्रियश्चोत्तमधार्मिकश्च। अक्षीणकीर्तिश्च विचक्षणश्च क्षितिक्षमावान् क्षतजोपमाक्षः॥ त्वमात्तबाणासनबाणपाणिर्महाबलः संहननोपपन्नः। मनुष्यदेहाभ्युदयं विहाय दिव्येन देहाभ्युदयेन युक्तः॥**']—अर्थात् श्रीरामजी सत्यसे लोकोंको, दानसे ब्राह्मणोंको, सेवासे गुरुजनोंको और शस्त्रयुक्त वे धनुषसे युद्धमें वीरोंको जीत लेते हैं। सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, शौच, सरलता, विद्या और गुरुशुश्रूषा श्रीरामजीमें दृढ़तासे रहते हैं। श्रीरामजीके जिस यशने सब दिशाओंको व्याप्त कर दिया, ऐसे पापका नाश करनेवाले, निर्मल, जिन (श्रीरामजी) के यशको ऋषिलोग राजदरबारमें

अद्यापि गाते हैं, उन (श्रीरामजी) के इन्द्र-कुबेरादिक जिसको नमन करते हैं ऐसे चरणकमलकी मैं शरण हूँ। हे श्रीमान् महाराज! आपके यशसे सब (समस्त) जगत् श्वेतवर्ण हो जाता है, तब परमपुरुष भगवान् विष्णु (अपने) क्षीरसागरको खोजते हैं। तथा शिवजी कैलासको, इन्द्र ऐरावतको, राहु चन्द्रमाको और ब्रह्माजी हंसको खोजते हैं। तात्पर्य कि क्षीरसागर कैलासादि पदार्थ श्वेतवर्ण होनेसे आपके यश (के श्वेतवर्ण) में मिले जाते हैं, अतः उनके स्वामियोंको खोजना पड़ता है। अर्थात् आपका यश सर्वत्र इतना फैला हुआ है। [बालीवध पश्चात् तारा श्रीरामजीसे कहती है कि—आपको यथार्थ जानना और प्राप्त करना कठिन है, आप जितेन्द्रिय, अत्यन्त धार्मिक, अविनाशी कीर्तिवाले, चतुर, पृथ्वीके समान क्षमावान्, आरक्तनेत्र, धनुर्बाण धारण किये हुए, अत्यन्त बलवान्, सुन्दर देहवाले (अर्थात्) मनुष्य-शरीरमें होनेवाली उन्नतिकी अपेक्षा दिव्य देहमें होनेवाली उन्नति (अर्थात् सौन्दर्य, धैर्य, वीर्य, शील आदि सम्पूर्ण सद्गुणों) से युक्त हैं]

नोट—४ कोई-कोई कहते हैं कि भारतकी दशा तो ऐसी ही है फिर अवतार क्यों नहीं होता? '***सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी***' और '***जब जब होइ धरम कै हानी***' ये शब्द विचार करनेयोग्य हैं। आज वह दशा भारतकी नहीं है, विप्र और धेनु अधिक-से-अधिक इन दोको नहीं, तो केवल '***धेनु***' को ही पीड़ित कह सकते हैं। '***सुर***' और '***विप्र***' पर अभी हाथ नहीं लगा। जब देवमन्दिर अच्छी तरह उखाड़े जावेंगे तब वे पीड़ित कहे जा सकेंगे। जैसे किंचित् औरङ्गजेब आदिके समयमें हुआ, उसके साथ ही उनका राज्य चलता हुआ। धर्मका श्रीराम-नामसे अभी निर्वाह होता जाता है। (मा० पी० प्र० सं०) अंग्रेजोंने जब भारतवर्षकी करोड़ों गायों, बैलों आदिकी (इस दूसरी जर्मन लड़ाईमें) हत्या कर डाली तब तुरन्त ही उनके हाथोंसे शासन निकल गया और अब संसारमें उनका मान भी बहुत घट गया—यह तो प्रत्यक्ष हम सबोंने देख लिया। आगे भी जिस शासनमें धर्मकी ग्लानि होगी, वह अपने ही पापोंसे नष्ट हो जायगा।

सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं॥ १॥
रामजनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका॥ २॥

अर्थ—वही यश गा-गाकर भक्त भवसागर पार होते हैं। कृपासिंधु भगवान् भक्तोंके लिये शरीर धारण करते हैं॥ १॥ श्रीरामचन्द्रजीके जन्मके अनेक कारण हैं जो एक-से-एक बड़े ही विचित्र हैं॥ २॥

नोट—'*भगत भव तरहीं*' यहाँ तरनेवालोंमें भक्त प्रधान हैं, अतएव यहाँ केवल उन्हींका नाम दिया। पर इससे यह न समझना चाहिये कि वे ही तरेंगे और नहीं। और लोग भी जो यश गायेंगे तरेंगे। यथा—'***करिहौं चरित भगत सुख दाता॥ जेहि सुनि सादर नर बड़ भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी॥***' (१। १५२), '***मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। संसारसिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं॥***' (६। १०६)

टिप्पणी—१ (क) '***सोइ जस गाइ भगत*** ....' भाव कि अपने समयके सज्जनोंकी राक्षसजन्यपीड़ा हरते हैं—'***हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा***' और यश विस्तारकर आगेके भक्तोंकी भवपीड़ा हरण करते हैं, इसीसे '***जनहित तनु धरहीं***' कहा। तन धारण करनेके सम्बन्धसे '***कृपासिंधु***' कहा—'**मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्।**' पुनः, भक्तोंपर भगवान्‌की भारी कृपा है, 'अतः कृपासिंधु (सागर) कहा। (ख) पहले कहा कि '***तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥***' और फिर यहाँ कहा कि '***सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥***' सज्जनोंकी पीड़ा हरनेके सम्बन्धसे वहाँ '***कृपानिधि***' और जनके लिये तन धरनेसे यहाँ '***कृपासिंधु***' कहा। भाव यह है कि कृपासिंधु जनके लिये तन धरते हैं और तन धरकर पीड़ा हरते हैं। दोनों जगह कृपाका समुद्र उनको कहा। ऐसा करके जनाया कि वर्तमान और भविष्य दोनोंपर भगवान्‌की समान कृपा है। (ग) '***राम जनम के हेतु अनेका***' अर्थात् जन्म-जन्मके हेतु अलग-अलग हैं और अनेक हैं। ☞ जन्म, कर्म और कथा सभी विचित्र हैं और सभी अनेक हैं, यथा—'***राम जनम के हेतु अनेका***..........' (१) '***एहि बिधि जन्म कर्म हरि केरे। सुंदर सुखद <u>बिचित्र घनेरे</u>॥***' (२), और '***अपर हेतु सुनु सैलकुमारी।***

कहौं बिचित्र कथा बिस्तारी॥' (घ) ☞पूर्व *'असुर मारि थापहिं सुरन्ह'*...... ' इस दोहेमें जन्मका एक हेतु कहा है; इसीसे अब कहते हैं कि (यही एक हेतु नहीं है) *'रामजन्म के हेतु अनेका।'* किसी कल्पमें शाप कारण है, जैसे कि जलंधरकी स्त्रीके शापसे तथा नारदके शापसे अवतार हुए और किसी कल्पमें भक्तपर कृपा करके अवतार लेते हैं। जय-विजय भक्त थे, उनके लिये अवतार लिया, यथा—*'एक बार तिन्ह के हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी॥'* प्रति अवतारके लिये भिन्न-भिन्न कारण होते हैं।

टिप्पणी—२ (क) ☞यहाँ केवल भक्तोंका ही यश गाकर तरना लिखा है, इसीसे लङ्काकाण्डमें 'सभीका यश गाकर' भव तरना लिखा है, यथा—*'जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं॥'* (नहीं तो समझा जाता कि जो रामभक्त नहीं हैं वे न तरेंगे)। (ख) भगवान् भक्तोंके लिये शरीर धारण करते हैं, भक्त भगवान्‌का यश गाते हैं, यह दोनोंकी अन्योन्य प्रीति कही।

जनम एक दुइ कहौं बखानी। सावधान सुनु सुमति भवानी॥ ३॥

अर्थ—मैं दो-एक जन्म बखानकर कहता हूँ। हे भवानी! हे सुन्दर बुद्धिवाली! सावधान होकर सुनो॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'जनम एक दुइ कहौं'* अर्थात् अनेक हेतुओंमेंसे एक-दो जन्मोंका हेतु कहता हूँ। पुनः भाव यह कि सब अवतारोंका मुख्य हेतु कह दिया, इसीसे अब दो-एक ही कहूँगा, बहुतका प्रयोजन नहीं है। 'एक दो' (दो-एक) लोकोक्ति है, 'थोड़े' का सूचक है।

नोट—१ यहाँ शिवजीने चार कल्पकी कथाएँ कही हैं। इनमेंसे तीन संक्षेपमें और एक (श्रीसाकेतविहारीजीका अवतार) विस्तारसे। यहाँ कहते हैं कि *'जनम एक दुइ कहौं बखानी'* और चौथी कथाके सम्बन्धमें कहेंगे कि *'कहउँ बिचित्र कथा बिस्तारी'।* इस कारण कुछ लोग *'एक दुइ'* से (एक+दो) तीनका अर्थ कर लेते हैं। अर्थात् तीन जन्मके हेतु साधारण ही संक्षेपसे कहूँगा और श्रीरामजन्मका कारण विस्तारसे कहूँगा। पुनः सतीतनमें यह शङ्का हुई थी कि विष्णु आदि रामावतार लेते हैं, पर ये विष्णु भी नहीं हो सकते; यथा—*'बिष्नु जो सुर हित नर तनु धारी। सोउ सर्बग्य'*........॥ *खोजइ सो कि अग्य इव नारी।'* (१। ५१) इसीसे श्रीशिवजीने श्रीरामावतारके सम्बन्धसे विष्णु और क्षीरशायी भगवान्‌के रामावतारको भी कहा। (मा० पी० प्र० सं०)

नोट—२ यहाँ तीन जन्मका कारणमात्र बखानकर कहनेकी प्रतिज्ञा है। इनमें कारणमात्र कहा गया है। यथा—(१) *'एक बार तिन्हके हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी॥'* (१। १२३। २) यहाँ जय-विजयके लिये अवतार लेनेका कारणमात्र कहा। (२) *'एक जनम कर कारन एहा। जेहि लगि राम धरी नर देहा॥'* (१। १२४। ३) यहाँ जलंधरके लिये भी अवतार लेनेका कारणमात्र कहा गया। (३) *'एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार।'* (१। १३९) यहाँ नारदशाप होना अवतारका कारणमात्र कहा गया। और आगे भानुप्रताप-रावणवाले कल्पमें जन्मका कारण और लीला विस्तारपूर्वक स्वमति अनुकूल कहनेकी प्रतिज्ञा है। यथा—*'अपर हेतु सुनु सैलकुमारी।'* से *'लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहौं मति अनुसारा॥'* (१। १४१) तक। 'बखानकर कहने' और 'विस्तारसे कहने' का इस तरह भेद दिखाया। (वे० भू०)

वि० त्रि० का मत है कि तीन न कहकर *'एक दुइ'* कहनेका भाव यह है कि एक बार तो अपने सेवकोंके हितके लिये शरीर धारण किया और दो बार शापके कारण जन्म ग्रहण किया था।

नोट—३ *'सावधान सुनु'* इति। भाव कि—(क) यही तुम्हारी प्रधान शङ्का है। (पं० रा० कु०) (ख) *'सावधान'* अर्थात् चित्त लगाकर विवेचन करती हुई, मनमें गुनती-विचारती हुई जिसमें समझमें आ जावे, एकाग्रचित्त होकर। (मा० पी० प्र० सं०) (ग) यदि सावधानतापूर्वक न सुनोगी तो तुम्हें भी कदाचित्

यह भ्रम हो जाय कि इन तीन जन्मोंका कारण जिनके लिये कथन किया गया वे ही श्रीअयोध्याजीमें श्रीरामरूपसे अवतार लेते होंगे। [यह भाव बाबा श्रीहरिदासाचार्यके श्रीरामतापनीयोनिषद्भाष्यके आधारपर कहा जाता है। उनका मत है कि शाप चाहे विष्णुभगवानको हो, श्रीमन्नारायणका श्रीरामावतार सदा साकेतसे ही होता है। इस मतके पोषणमें *'राम जनम के हेतु अनेका', 'तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा।'''''राम जनम कर हेतु।'* (१। १२१) *'जेहि लगि राम धरी नर देहा'* (जलंधर-रावणके लिये), *'एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार।'* (१। १३९) (नारद-शापके लिये), इत्यादि उद्धरण भी दिये जाते हैं]।

टिप्पणी—२ *'सुमति'* का भाव कि—(क) बुद्धिमान्‌को बोध थोड़े ही कथनसे हो जाता है। पुनः, (ख) हम कथा थोड़ेहीमें संक्षेपसे कहेंगे, अतः सावधान होकर सुमतिसे सुनो, जिसमें इतने ही कथनसे समझमें आ जावे। यथा—*'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥'* (३। १५। १) (ग) तुम्हारी बुद्धि सुन्दर है अतः तुम इतनेमें ही समझ लोगी (सावधानसे मन और चित्तकी सावधानता कही)—*'ताते मैं अति अलप बखाने। थोरे महुँ जानिहहिं सयाने॥'* (१। १२। ६) [पुनः *'सुमति भवानी'* कहकर शिवजी भगवतीके *'जदपि सहज जड़ नारि अयानी'* इस दैन्यका मार्जन करते हैं। (वि० त्रि०)]

द्वारपाल हरिके प्रिय दोऊ। जय अरु बिजय जान सब कोऊ॥ ४॥
बिप्र स्राप तें दूनौं भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई॥ ५॥
कनककसिपु अरु हाटक लोचन। जगत बिदित सुरपति मद मोचन॥ ६॥

शब्दार्थ—**द्वारपाल**=द्वाररक्षक ड्योढ़ीदार दरवान। **स्राप** (शाप)=अहितकारकामनासूचक शब्द; बद्दुआ। **तामस**=तमोगुणयुक्त; जिसमें प्रकृतके उस गुणकी प्रधानता हो जिसके अनुसार जीव क्रोधादि नीच वृत्तियोंके वशीभूत होकर आचरण करता है। **कनककसिपु** (कनक=हिरण्य+कशिपु)=हिरण्यकशिपु। **हाटक लोचन** (हाटक=हिरण्य+लोचन=अक्ष) हिरण्याक्ष।

अर्थ—हरि (विष्णुभगवान्) के दोनों ही प्रिय द्वारपालों जय और विजयको, सब कोई जानता है॥ ४॥ उन दोनों भाइयोंने विप्र (श्रीसनकादिक ऋषि) के शापसे तामसी असुर शरीर पाया॥ ५॥ (जो) हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष (हो) इन्द्रके मद (गर्व) को छुड़ानेवाले जगत्‌में प्रसिद्ध हुए॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'द्वारपाल हरिके प्रिय दोऊ।''''''''''* इति। (क) दोनों ही भगवान्‌के द्वारपाल हैं और दोनों ही प्रिय हैं। स्वामीका काम करनेमें निपुण तथा स्वामिभक्त होनेसे *'प्रिय'* कहा। (भक्तमालमें भी कहा है—*'लक्ष्मीपति प्रीनन प्रवीण महा भजनानंद भक्तनि सुहद।'* (नाभास्वामी), *'पार्षद मुख्य कहे षोडश स्वभाव सिद्ध सेवा ही की रिद्धि हिय राखी बहु जोरि कै। श्रीपति नारायण के प्रीनन प्रबीन महा ध्यान करै जन पालै भावदृगकोरिकै। सनकादि दियो शाप प्रेरिकै दिवायो आप प्रगट है कह्यो पियो सुधा जिमि घोरि कै। गही प्रतिकूलताई जोपै यही मन भाई या तें रीति हद गाई धरी रंग बोरि कै॥'* (प्रियादासजी। टीका कवित्त २५) (ख) *'जान सब कोऊ'* अर्थात् सब जानते हैं, इसीसे विस्तारसे नहीं कहते, पुराणोंमें इनकी कथा लिखी है और पुराण जगत्‌में प्रसिद्ध हैं। 'जय' बड़े हैं, इससे उनको पहले कहा। [ग्रन्थकारकी रीति है कि दो भाइयोंका नाम जब साथ देते हैं तो प्रथम बड़ेको तब छोटेको क्रमसे कहते हैं। यथा—*'नाम राम लछिमन दोउ भाई।'* (४। २। २), *'नाथ बालि अरु मैं द्वौ भाई।'*, (४। ६। १) *'नाथ नील नल कपि द्वौ भाई।'* (५। ६०। १) तथा यहाँ *'जय अरु बिजय', 'कनककसिपु अरु हाटकलोचन'* में जयको और कनककशिपुको प्रथम रखकर जनाया कि जय बड़ा भाई है वही हिरण्यकशिपु हुआ। विजय और हिरण्याक्ष छोटे हैं। हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष जुड़वाँ भाई (यमज) हैं। प्रथम हिरण्याक्ष निकला, पीछे हिरण्यकशिपु, पर वीर्यकी स्थितिके अनुसार हिरण्यकशिपु बड़ा माना जाता है)। (मा० पी० प्र० सं०)]

टिप्पणी—२ '*बिप्र स्त्राप तें दूनौं भाई।*' इति। (क) ☞ इस प्रकरणमें सनकादिको मुनि, ऋषि या ज्ञानी विशेषण नहीं दिया किन्तु '*बिप्र*' या 'द्विज' ही कहा है, क्योंकि इन्होंने वैकुण्ठमें भी जाकर मननशीलता न कर क्रोध करके शाप दिया। ['*बिप्र*' क्रोधमें भर जाते हैं और शाप दिया ही करते हैं। जैसे कि बिना सोचे-समझे भानुप्रतापको। ऋषियों, ज्ञानियोंको तो मननशील और संत-स्वभाव होना चाहिये, पर इन ब्रह्मज्ञानी महर्षियोंने शील, दया, शान्ति और क्षमा आदिको त्यागकर यहाँ कोप किया। अतएव उनको ऋषि आदि न कहकर '*बिप्र*' कहा। इससे ग्रन्थकारकी सावधानता प्रकट हो रही है। श्रीमद्भागवतमें भी शाप देनेके पश्चात् जब भगवान्‌का वहाँ आगमन हुआ तब उन्होंने भी मुनियोंसे ब्राह्मणोंकी महिमा गायी है और अन्तमें मुनियोंको '*बिप्र*' सम्बोधन किया है। यथा—'**शापो मयैव निमितस्तदवैत विप्राः।**' (भा० ३। १६। २६) में नारदजीने भी श्रीयुधिष्ठिरजीसे इनको विप्र-शाप होना कहा है। यथा—'**मातृष्वसेयो वश्चैद्यो दन्तवक्त्रश्च पाण्डव। पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात्पदाच्च्युतौ।**' (भा० ७। १। ३२) अर्थात् तुम्हारे मौसेरे भाई शिशुपाल और दन्तवक्त्र भगवान् विष्णुके प्रमुख पार्षद थे। ये विप्रशापके कारण ही अपने पदसे च्युत हो गये थे। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सनकादिककी उपमा चारों वेदोंसे दी गयी है, यथा—'*रूप धरें जनु चारिउ बेदा*', इसलिये उन्हें विप्र कहा। विप्रशाप अन्यथा नहीं हो सकता; यथा—'*किये अन्यथा होइ नहिं बिप्रसाप अति घोर।*'] (ख) 'विप्रशापसे' असुर हुए, इस कथनका भाव यह है कि इन्होंने असुर-शरीर पानेका कर्म नहीं किया था, ये शापसे असुर हुए। ब्राह्मणके शापसे असुर देह मिली, इसीसे तमोगुणी शरीर हुआ। ('*दूनौं भाई*' से स्पष्ट किया कि जय और विजय भाई-भाई थे)।

नोट—'*बिप्रस्त्राप*' इति। श्रीमद्भागवत स्कन्ध (३ अ० १५-१६) में श्रीब्रह्माजीने इन्द्रादि देवताओंसे शापकी कथा यों कही है—'हमारे मानस-पुत्र सनकादिक सांसारिक विषय-भोगोंको त्यागकर यदृच्छापूर्वक लोकोंमें विचरते हुए अपनी योगमायाके बलसे एक बार बैकुण्ठधामको गये।.........इस अपूर्व धामको देखकर अतिशय आनन्दित और हरिके दर्शनके लिये एकान्त उत्सुक हुए। छः ड्योढ़ियाँ लाँघकर जब सातवीं कक्षामें पहुँचे तो यहाँ द्वारपर दो द्वारपाल देख पड़े। ऋषियोंने उनसे पूछनेकी कुछ भी आवश्यकता न समझी, क्योंकि उनकी दृष्टि सम है, वे सर्वत्र ब्रह्महीको देखते हैं। ज्यों ही मुनि सातवीं कक्षाके द्वारसे भीतर प्रवेश करने लगे दोनों द्वारपालोंने (इन्हें नग्न देख और बालक जान हँसते हुए) बेंत अड़ाकर इन्हें रोका। 'सुहृत्तम हरिके दर्शनमें इससे विघ्न हुआ' ऐसा जानकर वे मुनि सर्पके समान क्रोधान्ध हुए।.........और उन्होंने शाप दिया कि 'तुम दोनों रजोगुण एवं तमोगुणसे रहित मधुसूदनभगवानके चरणकमलोंके निकट वास करनेयोग्य नहीं हो। अपनी भेद-दृष्टिके कारण तुम इस परम पवित्र धामसे भ्रष्ट होकर जिस पापी योनिमें काम, क्रोध और लोभ—ये तीन शत्रु हैं उसी योनिमें जाकर जन्म लो' 'ये ही दोनों द्वारपाल जय-विजय हैं। इस घोर शापको सुनकर उन दोनोंने मुनियोंके चरणोंपर गिर उनसे प्रार्थना की कि.........हम नीच-से-नीच योनिमें जन्म लें तथापि यह कृपा हो कि हमको उन योनियोंमें भी मोह न हो जिससे हरिका स्मरण भूल जाता है।' ठीक इसी समय भगवान् लक्ष्मीजीसहित वहाँ पहुँच गये। मुनि दर्शन पाकर स्तुति करने लगे। फिर भगवान्‌ने बड़े गूढ़ वचन कहकर उनको आश्वस्त किया कि ये दोनों हमारे पार्षद हैं, तुम मेरे भक्त हो, तुमने जो दण्ड इनको दिया, मैं उसे अङ्गीकार करता हूँ.........आप ऐसी कृपा करें कि ये फिर शीघ्र मेरे निकट चले आवें.........'। भगवान्‌का क्या तात्पर्य है यह ऋषिगण कुछ न समझ सके और उनकी स्तुति करते हुए बोले कि 'यदि ये दोनों निरपराध हैं और हमने व्यर्थ शाप दिया हो तो हमें दण्ड दीजिये.........'। भगवान्‌ने कहा कि तुमने जो शाप दिया इसमें तुम्हारा कुछ दोष नहीं, यह मेरी इच्छासे हुआ है। मुनियोंके चले जानेपर भगवान् अपने प्रिय पार्षदोंसे बोले कि तुम डरो मत। मैं ब्राह्मणके शापको मेट सकता हूँ; पर मेरी यह इच्छा नहीं, क्योंकि यह शाप मेरी ही इच्छासे तुमको हुआ है। मुझमें वैरभावसे मन लगाकर शापसे मुक्त होकर थोड़े ही कालमें तुम मेरे लोकमें आ जाओगे।'

[जय-विजयको यह शाप क्यों हुआ? इसका वृत्तान्त यह है कि एक बार भगवान्ने योगनिद्रामें तत्पर होते समय इनको आज्ञा दी कि कोई भीतर न आने पावे। श्रीरमाजी आयीं तो उनको भी इन्होंने रोका, यह न सोचा कि भला इनके लिये भी मनाही हो सकती है? श्रीलक्ष्मीजीने उस समय ही इनको शाप दिया था। यथा—'**एतत्पुरैव निर्दिष्टं रमया क्रुद्धया यदा। पुरापवारिता द्वारि विशन्ती मय्युपारते॥**' (यह भगवान्ने स्वयं जय-विजयको बताया है।) (भा० ३। १६। ३०।)]

ये दोनों कश्यपकी स्त्री दितिके पुत्र हुए। बड़ेका नाम हिरण्यकशिपु और छोटेका नाम हिरण्याक्ष हुआ। हिरण्यकशिपुकी कथा *'रामनाम नरकेसरी.........'* दो० २७ में देखिये। हिरण्याक्षकी कथा नीचे दी गयी है। दूसरे जन्ममें वे विश्रवामुनिके वीर्यद्वारा केशिनीके पुत्र, रावण-कुम्भकर्ण नामक हुए। फिर वे ही द्वापरमें शिशुपाल और दन्तवक्त्र हुए जो अर्जुनकी मौसीके पुत्र हैं। भगवान् कृष्णके चक्र-प्रहारसे निष्पाप हो शापसे मुक्त हुए—(स्कंध ७ अध्याय १) वराहावतार और हिरण्याक्षवधकी कथा (भा० ३ अ० १३, १८) और १९ में इस प्रकार है कि सृष्टिके आदिमें जब ब्रह्माजीसे मनु-शतरूपाजी उत्पन्न हुए तब उन्होंने ब्रह्माजीसे आज्ञा माँगी कि हम क्या करें। ब्रह्माजीने प्रसन्न हो उन्हें सन्तान उत्पन्न करके धर्मसे पृथ्वीपालन करनेकी आज्ञा की। मनुजीने उनसे कहा कि बहुत अच्छा पर हमारे और प्रजाके रहनेका स्थान हमें बतलाइये, क्योंकि पृथ्वी तो महाजलमें डूबी हुई है। ब्रह्माजी चिन्तित हो विचार करने लगे। इतनेमें उनकी नासिकासे सहसा अँगूठेभरका शूकर निकल पड़ा जो उनके देखते-देखते पलमात्रमें पर्वताकार होकर गर्जा। ब्रह्माजी और उनके पुत्र मरीचि आदि ऋषि चकित हुए। अन्ततोगत्वा उन्होंने यह निश्चय किया कि यज्ञपुरुषने हमारी चिन्ता मिटानेके लिये अवतार लिया है और उनकी स्तुति की। तब वाराहभगवान् प्रलयके महाजलमें प्रवेशकर डूबी हुई पृथ्वीको अपने दाँतपर उठाये हुए रसातलसे निकले।

इतनेमें समाचार पा हिरण्याक्षने गदा उठाये हुए सामने आकर राह रोकी और परिहास करते हुए अनेक कटुवचन-(ओहो! जलचारी शूकर तो हमने आज ही देखा। पृथ्वी छोड़ दे.......) कहे। परंतु भगवान्ने उसके वचनोंपर कान न दे उसके देखते-देखते पृथ्वीको जलपर स्थितकर उसमें अपनी आधारशक्ति देकर तब दैत्यसे व्यंग्य वचन कहते हुए उसका तिरस्कार किया। गदा-त्रिशूलादिसे दैत्यने घोर युद्ध किया। फिर अपने माया-बलसे छिपकर लड़ता रहा। भगवान् भी गदा और गदा छूट जानेपर चक्रसुदर्शनसे प्रहार करते रहे। अन्तमें उन्होंने लीलापूर्वक उसे एक तमाचा ऐसा मारा कि उसका प्राणान्त हो गया।

टिप्पणी—३ *'कनककसिपु अरु हाटकलोचन.........'* इति। (क) कनककशिपु ज्येष्ठ भ्राता है, इसीसे उसे प्रथम कहा। यथा—'**हिरण्यकशिपुर्ज्येष्ठो हिरण्याक्षोऽनुजस्ततः॥**' (भा० ७। १। ३९) (ख) *'सुरपति मद मोचन'* अर्थात् उन्होंने इन्द्रको जीत लिया। ☞ भक्तिके कारण जय-विजयकी प्रसिद्धि कही—*'जान सब कोऊ।'* भगवान्के प्रिय द्वारपाल हैं, सब पार्षदोंमें अपनी भक्तिके कारण मुख्य हैं। राक्षसोंकी प्रसिद्धि उपद्रवसे होती है, अतः राक्षस होनेपर *'जगत बिदित सुरपति मद मोचन'* कहकर उनकी प्रसिद्धि कही। सुरपतिको गर्व था कि मेरे समान ऐश्वर्य और बल-पराक्रममें कोई नहीं हैं। यथा—***'मोहि रहा अति अभिमान। नहिं कोउ मोहि समान॥'*** (६। ११२)—इस मदको उन्होंने चूर्ण कर डाला। (इन्द्र वीररसके अधिष्ठाता हैं। वि० त्रि०)

बिजई समर बीर बिख्याता। धरि बराह बपु एक निपाता॥ ७॥
होइ नरहरि दूसर पुनि मारा। जन प्रहलाद सुजस बिस्तारा॥ ८॥

शब्दार्थ—**बिजई** (विजयी)=सबको जीतनेवाले; जय पानेवाले। **बपु**=शरीर। **बिख्यात**=प्रसिद्ध, मशहूर। **निपाता**=नाश वा वध किया। **नरहरि** (नृहरि)=नृसिंह। **बराह**=शूकर, सुअर।

अर्थ—संग्राममें विजयी और वीरोंमें विख्यात हुए। भगवान्ने एकको (हिरण्याक्षको) वराहका शरीर धरकर मारा॥ ७॥ फिर नृसिंह हो दूसरेको मारा और भक्त प्रह्लादका सुन्दर यश फैलाया॥ ८॥

टिप्पणी—१ '*बिजई समर*......' इति। (क) समरमें विजयी कहनेका भाव कि छल-कपट करके विजय नहीं प्राप्त की किंतु सामने लड़कर जीता है। इन्द्रके गर्वको तोड़ा और कभी किसीसे हारे नहीं, अतः विजयी और विख्यात वीर कहा। (ख) '*धरि बराह बपु एक निपाता*' यहाँ छोटे भाई हिरण्याक्षको प्रथम कहा, बड़ेको पीछे कहते हैं, कारण कि छोटा भाई पहले मारा गया और बड़ा पीछे। अतएव क्रमभङ्ग करके कहा।

टिप्पणी—२ '*होइ नरहरि दूसर*......' इति। (क) पूर्व कहा था कि '*तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा*' अतः विविध शरीरोंमेंसे यहाँ कुछ (दो) कहे—एक वराह, दूसरा नृसिंह। [मिलान कीजिये—'**हतो हिरण्यकशिपुर्हरिणा सिंहरूपिणा। हिरण्याक्षो धरोद्धारे बिभ्रता सौकरं वपुः॥**' (भा० ७। १। ४०) में ज्येष्ठका नाम पहले दिया और छोटेका पीछे। गोस्वामीजीने बात वही कही पर क्रम पलटकर। यह विशेषता है। जिसका वध पहले हुआ उसे पहले कहा। '*नरहरि*' शब्दसे हिरण्यकशिपुका ब्रह्मसृष्ट प्राणीसे अवध्य होना सूचित किया। (ख) '*जन प्रहलाद सुजस बिस्तारा*' इति। अर्थात् प्रह्लादजीकी रक्षाके लिये नृसिंहरूप धारण करके राक्षसको मारा। पूर्व कहा था कि—'*जग बिस्तारहिं बिसद जस*............ *॥ सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं।*' अर्थात् भगवान् अपना यश फैलाते हैं जिससे भक्तजन भवपार हो जायँ। और यहाँ कहते हैं कि '*जन प्रहलाद सुजस बिस्तारा*' अर्थात् अपने भक्तका यश फैलाया। भाव यह है कि जैसे अपना यश फैलाते हैं, वैसे ही साथ-ही-साथ अपने भक्तका भी यश फैलाते हैं, भक्तसुयश विस्तृत करनेका भी तात्पर्य यही है कि उनका सुयश-गान भी भवपार करता है। दोनोंके यशगानका एक ही फल वा माहात्म्य जनाया—'*सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं*' श्रीगोस्वामी नाभाजी भी लिखते हैं—'*अग्रदेव आज्ञा दई भगतन्ह को जसु गाउ। भवसागर के तरन कहँ नाहिंन आउ उपाउ॥*'

नोट—१ '*जन प्रहलाद*......' इति। (क) '*जन*' अर्थात् दास वा भक्त प्रह्लादजी ब्रह्मण्य, शीलसम्पन्न, सत्यसंध, जितेन्द्रिय, सबके प्रिय, अति सुहृद्, भद्रपुरुषोंके चरणोंमें दासवत विनीत, दीनोंपर पिताके समान दया करनेवाले, बराबरवालोंसे भाईसमान स्नेह करनेवाले, गुरुजनोंमें ईश्वरभाव रखनेवाले, मान और गर्वसे रहित, विषयोंसे निःस्पृही, आसुरभावरहित इत्यादि भक्तोंके गुणोंसे सम्पन्न थे। वे भगवत्-प्रेममें कभी रोते, कभी हँसते, कभी गुण-गान करते, लज्जा छोड़कर नाचने लगते। वे सर्वत्र उस प्रभुको ही देखते थे, भगवद्भक्तिको ही पुरुषका एकमात्र सर्वश्रेष्ठ स्वार्थ मानते थे और यही सहपाठियों तथा पिताको उपदेश करते थे। वे निष्काम भक्त थे, वर माँगना वे मजूरोंका काम समझते थे। भगवान् सर्वव्यापक हैं, वे जड़ और चेतन सभीमें एक समान व्याप्त हैं, यह तो प्रह्लादहीने प्रत्यक्ष कर दिखाया। यथा— '**सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः। अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥**' (भा० ७। ८। १८) अर्थात् अपने सेवकके वचन सत्य करने तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपनी व्यापकता दिखानेके लिये सभाके भीतर उसी स्तम्भसे श्रीहरि बड़ा ही विचित्र रूप धारणकर प्रकट हुए।

(ख) '*सुजस बिस्तारा*' इति। यथा— '**यस्मिन्महद्गुणा राजन्गृह्यन्ते कविभिर्मुहुः। न तेऽधुनापि धीयन्ते यथा भगवतीश्वरे॥ यं साधुगाथासदसि रिपवोऽपि सुरा नृप। प्रतिमानं प्रकुर्वन्ति किमुतान्ये भवादृशाः॥**' (भा० ७। ४। ३४-३५), अर्थात् पण्डितजन उनके महान् गुणोंको बारम्बार ग्रहण करते हैं तथा भगवान्के समान उनके गुण अभीतक तिरोहित (अप्रसिद्ध) नहीं हुए हैं। देवगण उनके प्रतिपक्षी होनेपर भी सभामें साधु-पुरुषोंकी चर्चा चलनेपर भगवद्भक्त प्रह्लादका दृष्टान्त दिया करते हैं।

(ग) श्रीप्रह्लादजीका सुयश किस प्रकार विस्तार किया और उनको क्या सुयश मिला? उत्तर—उनकी भक्ति प्रकट करनेके लिये यह किया कि जब हिरण्यकशिपुने प्रह्लादजीको मार डालनेके लिये नाना उपाय

किये; जैसे कि एक साथ ही अनेक विकराल असुरोंसे उनके सम्पूर्ण मर्मस्थानोंमें त्रिशूलोंसे प्रहार कराया, दिग्गजोंसे रौंदवाया, विषधर सर्पोंसे डँसवाया, अभिचार कराया, पर्वतोंपरसे गिरवाया, अनेकों मायाओंका प्रयोग कराया, विष पिलाया, उपवास कराया, अग्निमें जलनेको डाला, पर्वतोंके नीचे दबवाया, जलमें डुबाया इत्यादि अनेक यातनाएँ दीं; तब भी उसको मारा नहीं, किंतु उसके सब उद्यम व्यर्थ कर दिये; जिससे संसारको उनकी भक्ति प्रकट हो जाय कि इतनी यातनाएँ दी जानेपर भी वे भक्तिसे न डिगे और किंचित् भय न माना। उनको यह सुयश मिला कि वे भक्तशिरोमणि माने जाते हैं, भगवान्‌ने स्वयं उनको भक्तोंमें आदर्शस्वरूप माना है और वर दिया है कि जो तुम्हारा अनुकरण करेंगे वे मेरे भक्त हो जायँगे; यथा—'**भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः। भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्।**'(भा० ७। १०। २१) चराचरमें भगवान् व्याप्त हैं, यह परिचय एवं विश्वास सबको इन्हींके चरित्रसे हुआ, यह यश इन्हींको मिला। यथा—'***प्रेम बदौं प्रहलादहि को जिन्ह पाहन ते परमेश्वर काढ़े।***' (क० ७। १२७) भगवान्‌ने अपना परम वात्सल्य अपने '**क्षन्तव्यमङ्ग यदि चागमने विलम्बम्।**' (अर्थात् दैत्यके किये हुए विषम काण्डको, उसकी की हुई दारुण यातनाओंको देखते हुए भी मुझे जो आनेमें विलम्ब हुआ उसे क्षमा करो।) इन शब्दोंसे दिखाया है। नृसिंहभगवान्‌के क्रोधको शान्त करनेका सामर्थ्य किसीमें न था, लक्ष्मीजी भी देखकर भग गयीं, भक्तशिरोमणि प्रह्लादने ही जाकर उनको शान्त किया। इत्यादि सब यश प्रह्लादका ही है। (पद्मपुराणकी कथामें किंचित् भेद है वहाँ लक्ष्मीजीकी प्रार्थनापर क्रोध शान्त हो गया)।

दो०—भए निसाचर जाइ तेइ महाबीर बलवान।
कुंभकरन रावन सुभट सुर बिजई जग जान॥ १२२॥

अर्थ—वे ही जाकर महावीर बलवान् कुम्भकर्ण और रावण (नामक) राक्षस हुए, जो बड़े ही योद्धा और देवताओंको पराजय करनेवाले हुए। उन्हें जगत् जानता है॥ १२२॥

टिप्पणी—१ (क) हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष '***सुरपतिमदमोचन***' थे और रावण-कुम्भकर्ण-'***सुरविजयी***' हुए, इससे (एकमें '***सुरपति***' और दूसरेमें '***सुर***' कहकर) सूचित किया कि रावण-कुम्भकर्ण हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षकी अपेक्षा कम बली थे। ☞यहाँ दिखाते हैं कि काल पाकर उत्तरोत्तर बल कम होता गया। यहाँतक जय-विजयके तीनों रूपोंका उत्कर्ष गाया है। जब वे जय-विजय थे तब उनको सब कोई जानता था, यथा—'***जय अरु बिजय जान सब कोऊ।***' जब वे हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हुए तब भी वे जगत्‌में विदित हुए, यथा—'***जगत बिदित सुरपति मद मोचन।***' और जब रावण-कुम्भकर्ण हुए तब भी उनको जगत्‌भर जानता था, यथा—'***सुर बिजई जग जान।***'

नोट—१ दोहेके पूर्वार्धका अर्थ उत्तरार्धमें है।'***भए निसाचर***' के 'निशाचर' शब्दसे त्रेतायुगमें रावण-कुम्भकर्णका होना जनाया। सत्ययुगमें दैत्य हुए, त्रेतामें निशाचर हुए और द्वापरमें क्षत्रिय हुए। पूर्वार्धमें'***महाबीर बलवान***' कहा, इसीसे उत्तरार्धमें '***सुभट सुर बिजई***' कहा। महावीर हैं, अतः सुभट हैं। अतएव सुरविजयी हैं। बलवान् हैं, सुरविजयी होनेसे जगत्‌भर जानता है। (मा० पी० प्र० सं))

नोट—२ यहाँतक शिवजीने इनके दो ही जन्म, जो आसुर-योनिमें हुए, कहे। यद्यपि आगे चौपाईमें तीन जन्मतक आसुरी शरीर पाना कहते हैं, तथापि उन्होंने तीसरे जन्मके नाम नहीं कहे। कारण कि तीसरा जन्म द्वापरमें हुआ। भगवान् कृष्णके हाथोंसे मरकर वे मुक्त हुए। परन्तु श्रीपार्वतीजीने 'राम-अवतार' का प्रश्न किया है और शिवजीका संकल्प भी 'रामजन्म' ही है, यथा—'***राम जनमके हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका॥ जनम एक दुइ कहौं बखानी।***' श्रीरामजन्महेतुकी प्रतिज्ञा है, अतएव 'राम-अवतार' तक कहकर छोड़ दिया, आगेकी कथाकी आवश्यकता नहीं। श्रीराम-अवतारका हेतु यहाँ समाप्त हो गया। (मा० पी० प्र० सं०)

मुकुत न भए हते भगवाना। तीनि जनम द्विज बचन प्रबाना*॥ १॥
एक बार तिन्ह के हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी॥ २॥

शब्दार्थ—**मुकुत** (मुक्त)=मोक्षको प्राप्त, जन्म-मरणादिसे रहित। **हते**=मारे जानेपर। **प्रबाना** (प्रमाण)= प्रमाण, मर्यादा, मान। (श० सा०) यथा—*'सुनहि सूद्र मम बचन प्रवाना।'* (७—१०९) लागी=लिये।

अर्थ—भगवान्‌के (हाथोंसे) मारे जानेपर (भी वे) मुक्त न हुए (क्योंकि) ब्राह्मण (श्रीसनकादिकजी) के वचनका प्रमाण तीन जन्मका था॥ १॥ भक्तानुरागी प्रभुने एक बार उनके हितार्थ (नर) देह धारण किया॥ २॥

टिप्पणी—१ *'मुकुत न भए हते भगवाना'* इति। (क) भाव कि भगवान्‌के हाथसे वध होनेसे मुक्ति होती है, यथा—*'रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही।'* (५। ३) *'निर्बानदायक क्रोध जाकर.........। निज पानि सर संधानि सो मोहि बधिहि सुखसागर हरी॥'* (३। २६) पर इनकी मुक्ति न हुई; इसका कारण दूसरे चरणमें बताते हैं कि *'तीनि जनम द्विज बचन प्रबाना'*। द्विजके वचनका प्रमाण तीन जन्म राक्षस होनेका था। भगवान् ब्रह्मण्यदेव हैं, यथा—*'प्रभु ब्रह्मन्यदेव मैं जाना। मोहि निति पिता तजेउ भगवाना॥'* (२०९। ४) इसीसे उन्होंने ब्राह्मण-वचनको प्रमाण रखा, अपना प्रमाण न रखा। (देखिये, भगवान् चाहते तो ब्रह्मशापको मिटा देते, शापको अङ्गीकार न करते तो शाप उनके पार्षदोंका बाल भी बाँका न कर सकता, पर उन्होंने ब्राह्मणोंके वचनोंको प्रमाण करनेके लिये 'अपनी रीति छोड़ दी'। यथा—'**भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम्। ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं तु मे॥**' (भा० ३। १६। २९) अर्थात् भगवान्‌ने जय-विजयसे कहा, 'तुम लोग यहाँसे जाओ। मनमें किसी प्रकारका भय न करो। तुम्हारा कल्याण होगा। मैं सब कुछ करनेमें समर्थ होकर भी ब्रह्मतेजको मिटाना नहीं चाहता, क्योंकि वह मेरा मान्य है।—इसी तरह भीष्मपितामहकी प्रतिज्ञा रखनेके लिये अपनी प्रतिज्ञा छोड़ दी थी जिसमें ब्राह्मण और भक्तका अनादर न हो। मुक्ति न होनेका कारण हरि-इच्छा है। उन्होंने श्रीसनकादिक ऋषियोंको प्रेरितकर तीन जन्मका शाप दिलाया था। यथा—'**एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यः..........। ....शापो मयैव निमितस्तदवैत विप्राः॥**' (भा० ३। १६। २६) भगवान्‌ने कहा—हे ब्राह्मणो! इन्हें जो शाप तुमने दिया उसे मेरी ही प्रेरणासे हुआ समझो। अब ये शीघ्र ही दैत्ययोनिको प्राप्त होंगे)। (ख) *'भगवाना'* का भाव कि यद्यपि गतिदाता हैं तथापि ब्राह्मणके वचनको सत्य करनेके लिये गति न दी। जीवको गति वा अगति देनेवाले भगवान् ही हैं, यथा—*'काल करम गति अगति जीवकी सब हरि हाथ तुम्हारे।'* (विनय०) (ग) *'तीनि जनम द्विज बचन'* का भाव कि एक तो इन्होंने ब्राह्मणोंको न माना, दूसरे भगवान्‌को न माना कि वे ब्रह्मण्य हैं और तीसरे अपनी ओर भी दृष्टि न की कि हम कौन हैं। न सोचा कि हम भगवान्‌के पार्षद हैं, हमको ऐसा करना योग्य नहीं। इन तीन अपराधोंसे तीन जन्मतक असुर-शरीर होनेका शाप दिया। [शापका प्रमाण यथा—'**रजस्तमोभ्यां रहिते पादमूले मधुद्विषः। पापिष्ठामासुरीं योनिं बालिशौ यातमाश्वतः॥ एवं शप्तौ स्वभवनात्पतन्तौ तैः कृपालुभिः। प्रोक्तौ पुनर्जन्मभिर्वां त्रिभिर्लोकाय कल्पताम्॥**' (भा० ७। १। ३७-३८) अर्थात् तुम दोनों भगवान् मधुसूदनके रजस्तमोगुणहीन चरणकमलोंमें रहनेयोग्य नहीं हो, अतः तुम शीघ्र ही अत्यन्त पापमयी असुरयोनिको प्राप्त हो जाओ। जब जय-विजय अपने स्थानसे भ्रष्ट होने लगे, तब उन कृपालु मुनियोंने कहा—'तुम्हारे तीन जन्मोंके द्वारा यह शाप समाप्त होकर पुनः वैकुण्ठलोककी प्राप्तिमें सहायक हो।'

यहाँ यह शङ्का प्रायः की जाती है कि 'जय-विजय तो बड़े प्रिय भक्त थे, इनकी तो शापसे रक्षा करनी चाहिये थी?' इसका समाधान ऊपर आ चुका कि यह सब तो भगवान्‌ने स्वयं लीला करनेकी

* प्रमाना—१७२१, छ०, को० रा०। प्रबाना—१६६१, १७०४, १७६२।

इच्छासे किया-कराया। भक्तमालमें भी प्रियादासजीने ऐसा कहा है, यथा—*'सनकादि दियो शाप प्रेरिकै दिवायो आप प्रगट ह्वै कह्यो पियो सुधा जिमि घोरिकै। गही प्रतिकूलताई जो पै यही मन भाई याते रीति हद गाई धरी रंग बोरिकै॥'* दूसरा समाधान यह है कि इनके उद्धारके लिये भगवान्‌ने स्वयं अवतार लिये, यही नहीं वरञ्च ये हरिको इतने प्रिय हैं कि इन्होंने तो तीन बार जन्म लिया और भगवान् ही चार बार अवतीर्ण हुए। एक बार हिरण्याक्षके लिये, दूसरी बार हिरण्यकशिपुके लिये, तीसरी बार रावण-कुम्भकर्णके लिये और चौथी बार शिशुपाल और दन्तवक्त्रके निमित्त। तीसरा समाधान यह है कि भगवान्‌ने अपने भक्तोंको तीनों जन्मोंमें बड़ाई दी है। इससे स्पष्ट है कि वे बराबर भक्तोंका प्रतिपालन करते रहे।

टिप्पणी—२*'एक बार तिन्हके·········'* इति। (क) भगवान्‌ने तो जय-विजयके हितार्थ वाराह, नृसिंह, राम और कृष्ण चार शरीर धरे, तब *'एक बार'* शरीर धरना कैसे कहा, *'चारि बार तिन्ह कै हित लागी'* कहना चाहिये था? इस शङ्काका समाधान यह है कि (पार्वतीजीने श्रीरामजीके अवतारका प्रश्न किया है अतः) शिवजी श्रीरामजन्मका हेतु कहते हैं, यथा—*'रामजन्म के हेतु अनेका। ·········जनम एक दुइ कहौं बखानी॥'* जय-विजय शापसे हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हुए, फिर वे ही रावण और कुम्भकर्ण हुए जो श्रीरामावतारके कारण हुए। रामजन्मके हेतुतक कहनेका प्रयोजन है, इसीसे आगेके जन्मका हाल न कहा (श्रीरामजन्म इनके तीन जन्मोंमेंसे दूसरे जन्मके लिये एक ही बार हुआ। अतः *'एक बार'* कहना ठीक है। श्रीरामजीका अवतार*'एक बार'* हुआ और केवल रावण-कुम्भकर्णके वधके लिये हुआ।*'एक बार'* यहाँ इसी अवतारके लिये आया है।) (ख) शङ्का—अवतार जय-विजयके हितार्थ कहते हैं पर उनका हित तो नहीं हुआ अर्थात् वे मुक्त न हुए, तब *'हित लागी'* कैसे कहा? समाधान—*'तीनि जनम द्विज बचन प्रबाना'* से कविने शङ्काका समाधान कर दिया है। वध करके प्रमाणतक पहुँचा देना यही हित है। वराह और नृसिंहरूपसे हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुको मारकर कुम्भकर्ण-रावणतक पहुँचाया, फिर श्रीरामजीने कुम्भकर्ण-रावण-वध करके (उनके वह शरीर छुड़ाकर) दन्तवक्त्र-शिशुपालतक पहुँचाया (अर्थात् रावण-कुम्भकर्णका शरीर छुड़ाकर उनको तीसरा शरीर लेनेका उपाय कर दिया, जिससे उनकी शीघ्र मुक्ति हो जाय)। तब श्रीकृष्णजीने उनको मारकर मुक्त किया। (ग)*'धरेउ सरीर भगत अनुरागी'*—शरीर धारण करनेका कारण *'भगत अनुरागी'* बताया। जय-विजय भक्त थे और प्रिय थे ही। यथा—*'तेहि धरि देह चरित कृत नाना। सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥'* (१। १३)

वि० त्रि०—*'भगत अनुरागी'* इति। भगवान्‌ने भक्तानुरागी शरीर धारण किया अर्थात् रामावतार हुआ। रामावतार भक्तानुरागी अवतार है। यथा—*'ध्वज कुलिस अंकुस कंजजुत बन फिरत कंटक किन लहे।'* भगवान्‌के इन चार चिह्नोंसे युक्त चरणोंके वनमें फिरते हुए कण्टकविद्ध होनेका योग किसे हुआ? अर्थात् सिवा रामावतारके और किसी अवतारमें ऐसा योग नहीं हुआ। क्योंकि रामावतार भक्तानुरागी अवतार है। ये भक्तपर इतना अनुराग करते हैं कि उनके लिये वन-वनमें फिरे, चरणोंमें काँटे गड़े। यह देखकर ज्योतिषी चकित हुए। यथा—*'राजलखन सब अंग तुम्हारे। देखि सोच अति हृदय हमारे॥ मारग चलहु पयादेहि पाएँ। ज्योतिष झूठ हमारेहि भाएँ॥'*

कस्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौसल्या बिख्याता॥ ३॥
एक कलप एहि बिधि अवतारा। चरित्र पवित्र किए संसारा॥ ४॥

शब्दार्थ—**'कस्यप अदिति'**—कश्यपजी वैदिक कालके ऋषि हैं। एक मन्वन्तरमें सारी सृष्टि इन्हींकी रची हुई थी। ये सप्तर्षियोंमेंसे भी एक हैं। अदिति और दिति आदि इनकी बहुत-सी स्त्रियाँ थीं जिनसे इन्होंने सृष्टिकी वृद्धि की। अदिति, इन्द्र, सूर्य आदि देवताओंकी माता हैं और दिति दैत्योंकी। किसी-किसी कल्पमें कश्यप-अदिति ही मनु-शतरूपा एवं दशरथ-कौशल्या हुआ करते हैं।

अर्थ—वहाँ (उस अवतारमें) कश्यप और अदिति पिता-माता हुए जो श्रीदशरथ और श्रीकौशल्याजी (के नामसे) प्रसिद्ध हुए॥ ३॥ एक कल्पमें इस प्रकार अवतार लेकर प्रभुने अपने चरित्रोंसे संसारको पवित्र किया॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'तहाँ'* अर्थात् उस कल्पमें। खास कश्यप और अदिति पिता-माता नहीं हैं वरञ्च वे दशरथ-कौशल्यारूप हुए तब पिता-माता विख्यात हुए। यथा—*'कश्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहँ मैं पूरुब बर दीन्हा॥ ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नर भूपा॥'* (१। १८७) (ख) *'कस्यप अदिति तहाँ पितु माता'* कहनेका भाव कि सब कल्पोंमें वा सदा *'कश्यप अदिति'* ही दशरथ-कौशल्या नहीं होते, इस कल्पमें वे ही दशरथ-कौशल्या हुए अन्य कल्पोंमें और पिता-माता होते हैं; जैसे स्वायम्भुव मनु और शतरूपा हुए। यदि सब कल्पोंमें कश्यप-अदिति ही पिता-माता होते तो सर्वत्र कश्यप-अदितिको पिता-माता कहनेका प्रयोजन ही कौन था ? कश्यप-अदितिने श्रीरामजीके लिये बड़ा तप किया तब माता-पिता हुए, यथा—*'कस्यप अदिति महा तप कीन्हा।.........।'* (१। १८७) पुनः भाव कि *'कस्यप अदिति तहाँ पितु माता'* कहकर इसे भी श्रीरामावतारका हेतु बताया, श्रीरामजी पुत्र हों, इसलिये उन्होंने तप किया था; इसी हेतु श्रीरामजीने अवतार लिया।

टिप्पणी—२ *'एक कलप एहि बिधि.........'* इति। (क) ☞ अब इस कल्पकी कथा समाप्त की। (हिरण्यकशिपु आदि सब एक ही कल्पमें हुए। वराह, नृसिंह, श्रीराम और श्रीकृष्ण ये चारों अवतार एक ही कल्पमें हुए।) (ख) *'चरित पबित्र किए.........'* इति। *' असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु। जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजन्म कर हेतु॥'* (१२१) इस दोहेको यहाँ चरितार्थ करते हैं। —कुम्भकर्ण और रावण इन असुरोंको मारा जो सुरविजयी थे। इन्होंने देवताओंके लोकोंको छीन लिया था, अतः इनको मारकर देवताओंको अपने-अपने लोकोंमें बसा दिया; यह *'थापहिं सुरन्ह'* को घटित किया। इनके मरनेसे श्रुतिसेतुकी रक्षा हुई, यह *'पालहिं श्रुति सेतु'* हुआ। रहा *'जग बिस्तारहिं.........'* वह यहाँ चरितार्थ हुआ—*'चरित पबित्र किए संसारा।'*

इति वैकुण्ठाधीश पार्षद—जय-विजयार्थ अवतार समाप्त।

* जलन्धरके लिये अवतार *

एक कलप सुर देखि दुखारे। समर जलंधर सन सब हारे॥ ५॥
संभु कीन्ह संग्राम अपारा। दनुज महाबल मरै न मारा॥ ६॥
परम सती असुराधिप नारी। तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी॥ ७॥

अर्थ—एक कल्पमें सब देवता जलन्धरसे हार गये। (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि तब) देवताओंको दुःखी देखकर॥ ५॥ शिवजीने बहुत भारी घोर युद्ध किया, पर वह दैत्य महाबलवान् था, मारे न मरता था॥ ६॥ उस दानवराजकी स्त्री पतिव्रता थी। उसीके बल (प्रभाव) से त्रिपुरासुरके नाशक महादेवजी भी उस दानवको न जीतते थे॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'एक कलप सुर देखि दुखारे।.........'* इति। (क) प्रथम भक्तोंके हेतु अवतार होना कहा, यथा—*'एक बार तिन्ह के हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी॥'* अब देवताओंके लिये अवतार होना कहते हैं। जलन्धरने देवताओंको जीतकर उनके सब लोक छीन लिये थे, इसीसे देवता दुःखी हुए। यथा—*'तेहिं सब लोक लोकपति जीते। भए देव सुख संपति रीते॥'* (१। ८२। ६) (ख) *'सब हारे'* अर्थात् तैंतीस कोटि देवता हार गये। (ग) *'सुर देखि दुखारे'* का भाव कि भगवान् देवताओंका दुःख नहीं देख सकते; यथा—*'जब जब नाथ सुरन्ह दुखु पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥'* (६। १०९) (घ) जलन्धरकी कथा आगे है।

टिप्पणी—२'*संभु कीन्ह संग्राम*............' इति। (क) भाव कि जब सब देवता हार गये तब शिवजीने संग्राम किया। (ख) '*अपारा*' कहकर जनाया कि देवता लोग शीघ्र हार गये थे और शिवजी बहुत दिनोंतक लड़ते रहे। संग्राम वर्षों जारी रहा। कोई पार न पाता था। (ग)'*महाबल मरै न मारा*' अर्थात् महाबलवान् है, इससे मारे नहीं मरता। पुनः भाव कि शिवजी उसके वधके लिये उसे भारी शस्त्रास्त्रसे मारते हैं पर सब शस्त्रास्त्र व्यर्थ जाते हैं, दानव मरता नहीं।

टिप्पणी—३'*परम सती असुराधिप नारी।*............' इति। (क) अर्थात् इसीसे असुर महाबली है। (ख)'*तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी*' उसी बलसे असुरको पुरारि नहीं जीतते। अर्थात् धर्मकी मर्यादाका नाश नहीं कर सकते। भाव यह कि वह असुर अपने शरीरके बलसे नहीं लड़ रहा है किन्तु अपनी स्त्रीके पातिव्रत्य धर्मके बलसे लड़ता है। [सती स्त्रियोंके पातिव्रत्य धर्मका बल बड़ा भारी होता है। जलन्धरकी कथामें प्रमाण देखिये] पुनः'*तेहि बल*' से जनाया कि वह दानव शङ्करजीके सदृश बलवान् नहीं है, वह केवल सतीत्व धर्मकी रक्षासे बचता है, नहीं तो शिवजी उसे जीत लेते। यहाँ 'प्रथम उल्लास अलङ्कार' है—'*और वस्तु के गुणन ते और होत बलवान।*' [(ग)'*परम सती*' तो गिरिजाजी भी हैं। जलन्धरकी स्त्री वृन्दाकी जोड़में गिरिजाजीको क्यों न कहा? कारण कि उनका सामर्थ्य श्रीपार्वतीजीके सतीत्वसे नहीं है वे तो स्वयं सहज समर्थ भगवान् हैं और जलन्धरको केवल उसकी स्त्रीके पातिव्रत्यका बल और सामर्थ्य है, उसमें स्वयं यह सामर्थ्य न था कि त्रिपुरासुरके मारनेवालेका सामना कर सकता। अतएव जलन्धरके साथ उसकी स्त्रीके पातिव्रत्यका बल भी कहा और शिवजीके साथ श्रीगिरिजाजीके पातिव्रत्यको न कहा। (मा० पी० प्र० सं०)] (घ) '*पुरारी*' का भाव कि यह असुर त्रिपुरासुरसे भी अधिक बलवान् है। त्रिपुरको तो शिवजीने एक ही बाणसे मार गिराया था, यथा—'*मार्यो त्रिपुर एक ही बान*' (विनय०), पर इसे नहीं जीतने पाते। [अथवा, त्रिपुरनाशकको जलन्धरका मारना क्या कठिन था? परन्तु उसका वध करनेसे पातिव्रत्यधर्मकी मर्यादा न रह जाती, इस धर्मसङ्कटमें पड़कर शिवजी उसे न मार सके। यहाँ एक ओर तो पातिव्रत्यका प्रभाव दिखाया और दूसरी ओर मर्यादाकी रक्षा दिखायी। (मा० पी० प्र० सं०)]

'*जलंधर*'—यह शिवजीकी कोपाग्निसे समुद्रमें उत्पन्न हुआ था। जन्मते ही यह इतने जोरसे रोने लगा कि सब देवता व्याकुल हो गये। ब्रह्माजीके पूछनेपर समुद्रने उसे अपना पुत्र बता उनको दे दिया। ब्रह्माजीने ज्यों ही उसे गोदमें लिया उसने उनकी दाढ़ी (ठुड्डी) इतने जोरसे खींची कि उनके आँसू निकल पड़े। इसीसे ब्रह्माने उसका नाम जलंधर रखा। इसने अमरावतीपर कब्जा कर लिया। इन्द्रादिक सभी देवता इससे हार गये। अन्ततोगत्वा श्रीशिवजीने इन्द्रका पक्ष ले उससे बड़ा घोर युद्ध किया। उसको न जीत पाते थे क्योंकि उसकी स्त्री वृन्दा, जो कालनेमिकी कन्या थी, परम सती थी। सतीत्वका बल ऐसा ही है; यथा—'**यस्य पत्नी भवेत्साध्वी पतिव्रतपरायणा। स जयी सर्वलोकेषु सुमुखी स धनी पुमान्॥ कम्पते सर्वतेजांसि दृष्ट्वा पातिव्रतं महः। भर्त्ता सदा सुखं भुङ्क्ते रममाणो पतिव्रताम्॥ धन्या सा जननी लोके धन्योऽसौ जनकः पुनः। धन्यः स च पतिः श्रीमान् येषां गेहे पतिव्रता॥**' (मा० त० वि०)

यह जानकर कि शिवजी उसके पतिसे लड़ रहे हैं वृन्दाने पतिके प्राण बचानेके लिये ब्रह्माकी पूजा प्रारम्भ की। जब शिवजीने देखा कि जलंधर नहीं मर सकता तब उन्होंने भगवान्का स्मरण किया। भगवान्ने सहायता की। वे वृन्दाके पास पहुँचे [किस रूपसे ? इसमें मतभेद है। कहते हैं कि वृन्दाने पूर्व जन्ममें पति-रूपसे भगवान्को वरण करनेके लिये तपस्या की थी और उन्होंने उसे वैसा वर भी दिया था। सो इस प्रकार सिद्ध हुआ]।—वृन्दाने उन्हें देखते ही पूजन छोड़ दिया। पूजन छोड़ते ही जलंधरके प्राण निकल गये।

सतीत्वभङ्गके प्रसङ्गकी कथाएँ पुराणोंमें कई तरहकी हैं।

भगवान्ने यह छल किया कि वे तपस्वी यति बनकर उसके घरके पास विचरने लगे। वृन्दाने उनसे पूछा कि हमारा पति कब जय पावेगा? यति बोले कि वह तो मार डाला गया। तब वृन्दाने कहा कि तुम झूठ कहते हो। हमारा पातिव्रत्य रहते हुए उसे कौन मार सकता है? यतिने आकाशकी ओर दृष्टि

की तो दो वानर जलंधरके शरीरको विदीर्ण करते हुए देख पड़े। थोड़ी ही देरमें शरीरके टुकड़े वृन्दाके समीप आ गिरे। यह देख वह विलाप करने लगी""""तब यतिने कहा कि इसके अङ्गोंको तू जोड़ दे तेरे पातिव्रत्यधर्मसे वह जी उठेगा। उसने वैसा ही किया। अङ्गोंके स्पर्श करते ही भगवान्‌ने उसमें प्रवेशकर जलंधर रूप हो उसका व्रत भङ्ग किया; तभी इधर जलंधरको शिवजीने मारा। वृन्दाको यह बात तुरत मालूम हुई। जब उसने शाप दिया तब भगवान्‌ने अपने लिये पूर्व जन्मकी तपस्याकी कथा कहकर उसका सन्तोष किया। शाप यह था कि जलंधर रावण होकर तुम्हारी पत्नी हरेगा, इत्यादि। अरण्यकाण्ड *'अजहु तुलसिका हरिहि प्रिय।'* (दोहा ५) में कथा दी गयी है। १२४ (५) में भी देखिये।

दोहा—छल करि टारेउ तासु ब्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह।
जब तेहिं जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह॥ १२३॥

अर्थ—प्रभुने उसका पातिव्रत्य छलसे भङ्गकर देवताओंका काम किया। जब उसने यह मर्म जाना तब कोप करके शाप दिया॥ १२३॥

टिप्पणी—१ (क) *'छल करि'* का भाव कि परम सती है, उसका पातिव्रत्य भङ्ग करना प्रभुके लिये भी साध्य न था, इसीसे साक्षात् (प्रत्यक्ष रूपसे) उसके व्रतको न टाल सके, छल करना पड़ा। भगवान्‌ने भोगकी इच्छासे नहीं किन्तु सुरकार्यके लिये असुराधिप-नारिसे भोग किया। (ख) छल करना दोष है अतएव *'प्रभु'* शब्द देकर उन्हें दोषसे निवृत्त किया। वे समर्थ हैं, अतः छल करनेका अधर्म उनको नहीं हो सकता। यथा—*'समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥'* (१। ६९) (पुनः परोपकारमें दोष नहीं लगता, प्रभुने देवताओंको आर्त्त देख उनका सङ्कट दूर किया, अतएव *'सुर कारज कीन्ह'* भी कहा) (ग) *'सुर कारज कीन्ह'* अर्थात् इधर व्रत लूटा, उधर शिवजीने असुरको मारा जिससे देवताओंका दुःख मिटा। (घ) *'जब तेहि जानेउ'* इति। ☞कैसे जाना? भगवान्‌ने मर्म जनाया, जिसमें वह उन्हें शाप दे और वे लीला करें नहीं तो जिस मर्मको भगवान् छिपावें उसे जाननेको कौन समर्थ हो सकता है? यथा—*'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ। रथ समेत रबि थाकेउ निसा कवन बिधि होइ॥'* (१९५) *'निज निज रुख रामहि सबु देखा। कोउ न जान कछु मरमु बिसेषा॥'*, (२४४। ८)। *'लछिमनहू यह मरमु न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना॥'*, (३। २४। ५) *'छन महिं सबहिं मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना॥'*, (७। ६। ७) *'तेहि कौतुक कर मरम न काहू। जाना अनुज न मातु पिताहू॥'* (७। ७९। ५) इत्यादि। जिसको प्रभु कृपा करके स्वयं जना दें वही जान सकता है। यथा—*'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। औरु तुम्हहि को जाननिहारा॥ सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।""""तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥'* (२। १२७) तब जलंधरकी स्त्री बिना जनाये कैसे जान सकती थी? [प्रभुको तो लीला करनी थी, यह सब उनकी इच्छासे हुआ; यथा—*'मम इच्छा कह दीन दयाला।'* (१। १३८) (यह नारदजीसे भगवान्‌ने कहा है, वैसे ही यहाँ समझना चाहिये।) प्रभुने अपनी इच्छासे यह बात वृन्दाको जनायी; इसीसे अगली चौपाईमें आपको *'कौतुकनिधि'* कृपाल कहा है। (मा० पी० प्र० सं०)] (ङ) **'मरम'**—यह कि ये विष्णु हैं, इन्होंने छलसे हमारा पातिव्रत्य छुड़ाया और यह कि व्रतभङ्ग होते ही मेरा पति मारा गया। (च) **श्राप**—यह शाप दिया कि तुमने हमसे छल किया, हमारा पति तुम्हारी स्त्रीको छलकर हरेगा, तुमने हमें पतिवियोगसे व्याकुल किया वैसे ही तुम स्त्रीवियोगसे दुःखी होगे; तुमने हमें मनुष्यतन धरकर छला, अतः तुमको मनुष्य होना पड़ेगा। (छ) *'श्राप कोप करि दीन्ह'* इति। ☞बिना क्रोधके शाप नहीं होता, जब होता है तब क्रोधसे होता है। यथा—*'बेषु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहिं सराप दीन्ह अति गाढ़ा॥'* (१३५। ८) (नारदजी), *'बोले बिप्र सकोप तब नहिं कछु कीन्ह बिचार। जाइ निसाचर होहु नृप मूढ़ सहित परिवार॥'* (१७३) (भानुप्रतापको विप्रोंका शाप), *'जदपि कीन्ह एहि दारुन पापा। मैं पुनि दीन्हि कोप करि सापा॥'* (७। १०९। ३) (शिवजी), *'पुनि*

पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा। तब मुनि बोलेउ बचन सकोपा॥.........*लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई।'* (७। ११२) (लोमश-शाप) तथा यहाँ भी कहा *'श्राप कोप करि दीन्ह'*।

तासु श्राप हरि दीन्ह* प्रमाना। कौतुकनिधि कृपाल भगवाना॥ १॥
तहाँ जलंधर रावन भएऊ। रन हति राम परमपद दएऊ॥ २॥

शब्दार्थ—**प्रमान** (प्रमाण)=आदर, मान। **हति**=मारकर।

अर्थ—हरिने उसके शापको आदर दिया, क्योंकि वे कौतुकके निधान (भण्डार, खजाना), कृपाल और षडैश्वर्य सम्पन्न हैं॥ १॥ वहाँ (उस कल्पमें) जलंधर रावण हुआ। श्रीरामजीने उसे संग्राममें मारकर परम पद (अपना धाम, मोक्ष) दिया॥ २॥

नोट—१ *'तासु श्राप हरि दीन्ह प्रमाना'* इति। भगवान्‌के स्मरणसे तो लोगोंके शाप मिट जाते हैं, यथा—*'सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी',* फिर भला उन्हें शाप क्योंकर लग सकता है? जय-विजयसे भी भगवान्‌ने यही कहा था कि हम शाप मेट सकते हैं पर यह हमारी ही इच्छा है; इसलिये शाप अङ्गीकार करो, तुम्हारा कल्याण होगा।

किसीका भी सामर्थ्य नहीं कि जबरदस्ती उनको शाप अङ्गीकार करा सके, देखिये भृगुजीका शाप उन्होंने न स्वीकार किया तब भृगुजीने यह विचारकर कि शापके अङ्गीकार न किये जानेसे हमारा ऋषित्व नष्ट हो जायगा, उग्र तप किया और भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर उन्होंने यही वर माँगा कि हमारा शाप आप अङ्गीकार करें।

यही बात नारद-मोह प्रकरणमें झलकती है। नारद मुनिने जब यह चाहा कि हमारा शाप असत्य हो जाय तब भगवान्‌ने कहा कि नहीं, हमारी इच्छा है, हम उसको सत्य करेंगे। यथा—*'मृषा होउ मम शाप कृपाला। मम इच्छा कह दीन दयाला॥'* (१। १३८) अतएव यहाँ भी सतीत्वकी मर्यादा-प्रतिष्ठाकी रक्षा एवं लीलाके लिये शाप अङ्गीकार किया गया।

टिप्पणी—१ *'हरि दीन्ह प्रमाना.........'* इति। (क) *'हरि'* का भाव कि जिनके स्मरणसे शाप दूर हो जाता है, जो शापके हरनेवाले हैं, यथा—*'सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी॥'* (१२५। ४) उन्होंने शापको आदर-मान दिया। भगवान् अपनी इच्छासे शाप ग्रहण करते हैं, वे न चाहें तो उन्हें शाप नहीं लग सकता। यही बात आगे कहते हैं—*'कौतुकनिधि कृपाल भगवाना।'* (ख) [रा० प्र० कार कहते हैं कि दोहेमें *'प्रभु'* शब्द देकर यहाँ शापको प्रमाण देना कहनेका भाव यह है कि वे उसे अन्यथा करनेको समर्थ हैं तथापि उन्होंने शाप ले लिया, क्योंकि वे कौतुकनिधि हैं; उनको कौतुक बहुत प्रिय है और कौतुक प्रिय होनेका हेतु कृपालुता है; वे असुरोंको सद्गति देते और भक्तोंके गानेके लिये कल्याणकारक चरित करते हैं।] (ग) *'कौतुकनिधि'* का भाव कि लीला करना चाहते हैं, इसीसे शापको अङ्गीकार किया। *'कृपाल'* हैं अतएव देवताओंपर कृपा करके अवतार लेना चाहते हैं। कृपा अवतारका हेतु है। पुनः *'कृपाल'* का भाव कि जलंधरकी स्त्रीपर कृपा करके शाप अङ्गीकार किया। शापको अङ्गीकार करनेसे उसको सन्तोष हुआ। *'भगवाना'* अर्थात् षडैश्वर्यसम्पन्न हैं। जलंधर रावण होकर धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यका नाश करेगा तब 'भगवान्' अवतार लेकर रक्षा करेंगे। (घ) भगवान् होकर शापको मान लिया क्योंकि मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। धर्मका नाश करनेवालेको दण्ड चाहिये। यदि आप शाप अङ्गीकार न करते तो धर्मकी मर्यादा कैसे रहती? दण्डका काम किया, अतः दण्ड अङ्गीकार किया। अपराधीको जो दण्ड दिया जाता है उसको आनन्दसे भोगना अपराधीका कर्तव्य है। यदि भगवान् स्वयं ही धर्मविधान कर देंगे तो दूसरे उनका अनुकरण करेंगे। यथा—'**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥** यदि

* कीन्ह प्रबाना—१७२१, छ०, को० रा०। दीन्ह—१६६१ (कीन्ह का दीन्ह बनाया है), १७०४।

ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥' (गीता ३। २१—२३) (अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरा पुरुष भी वह-वह ही आचरण करता है। वह जितने प्रमाणमें करता है, संसार उसीके पीछे चलता है। यद्यपि मेरे लिये तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, और न किसी अप्राप्त वस्तुको प्राप्त ही करना है, तथापि मैं कर्ममें बर्तता हूँ। यदि मैं सजग होकर कदाचित् कर्ममें प्रवृत्त न होऊँ तो, अर्जुन! सब मनुष्य सब प्रकारसे मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं (अतः वे भी कर्मोंको छोड़ देंगे)। इसी हेतुसे शापको स्वीकार किया।

मा० पी० प्र० सं०—'*कौतुकनिधि*..........।' अपने ऊपर शाप ले लेनेका यहाँ कारण बता रहे हैं। कौतुक खेल, तमाशा, मनबहलावको कहते हैं। '*कौतुकनिधि*' विशेषण देकर यह भी सूचित करते हैं कि इस शापसे आपको किंचित् दुःख न हो सकता था और न हुआ, जैसे दिलबहलाव (मनोरञ्जन) के खेल-तमाशेसे नहीं होता। पुनः कृपालु हैं; शाप अङ्गीकार कर वृन्दापर कृपा की, उसका मन रख लिया, उसको इतनेमें सन्तोष हो गया। पुनः, भगवान् हैं, इसलिये भी शाप कुछ बाधा नहीं कर सकता था, इनके लिये यह कोई बड़ी बात नहीं। जो उत्पत्ति, पालन, संहार करता है, उसे सभी कुछ शोभा देता है।

टिप्पणी—२'*तहाँ जलंधर रावन भयऊ*' इति। (क) जहाँ जैसा प्रसङ्ग होता है वहाँ ग्रन्थकार वैसा ही लिखते हैं। यहाँ केवल जलंधरका रावण होना कहा गया, क्योंकि यहाँ जलंधरकी स्त्रीने केवल जलंधरके लिये कहा कि हमारा पति तुम्हारी स्त्रीको छल करके हरेगा। इसके वर्णनका यहाँ कोई प्रयोजन नहीं था कि उसका भाई कुम्भकर्ण हुआ या कौन, और परिवार राक्षस हुआ या नहीं। जहाँ दोको शाप हुआ, जैसे जय-विजय-प्रकरणमें, वहाँ कुम्भकर्ण और रावण दो कहे और जहाँ कुटुम्बभरको शाप हुआ। जैसे भानुप्रतापको वहाँ कुटुम्बभरका हाल कहा गया। यथा—'***काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भयउ निसाचर सहित समाजा॥ दस सिर ताहि बीस भुजदंडा। रावन नाम बीर बरिबंडा॥ भूप अनुज अरिमर्दन नामा। भएउ सो कुंभकरन बलधामा॥ सचिव जो रहा धरमरुचि जासू। भएउ बिमात्र बंधु लघु तासू।*** ....***रहे जे सुत सेवक नृप केरे। भए निसाचर घोर घनेरे॥***' (१। १७६) [जय-विजय दो भाई थे और दोनोंको शाप हुआ था उनके साथ और कोई न था। इसी तरह रुद्रगण दो थे और दोनोंको एक ही साथ शाप हुआ। अतएव उनके सम्बन्धमें रावण-कुम्भकर्ण होना लिखा गया। भानुप्रतापने ब्राह्मणोंको परिवारसहित निमन्त्रण दिया था जैसा कि '***नित नूतन द्विज सहस सत बरेहु सहित परिवार।***' (१६८) तथा '***छत्रबंधु तैं बिप्र बोलाई। घालै लिए सहित समुदाई॥***' (१। १७४। १) से स्पष्ट है इसीसे ब्राह्मणोंने परिवारसहित सबको शाप दिया था। यहाँ जलंधर अकेला था, विष्णु भी अकेले ही छलने गये थे, अतः केवल जलंधरका रावण होना कहा और उसीका वध करना लिखा गया। बैजनाथजीका मत है कि जलंधरके जो प्रिय सखा थे वे ही कुम्भकर्णादि हुए। परन्तु पंजाबीजी, रा० प्र० आदिका मत है कि उस कल्पमें केवल रावण ही हुआ—'***कल्प भेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥***' (१। ३३) (मा० पी० प्र० सं०)]

(ख)'***परम पद दएऊ***' अर्थात् मुक्त कर दिया। जय-विजय रावण-कुम्भकर्ण हुए तब विप्रशापके कारण मुक्ति न हुई थी और यहाँ जलंधर-रावणकी मुक्तिमें कोई बाधा नहीं है।

नोट—२ जलंधरकी स्त्री वृन्दाकी कथासे हमें शिक्षा मिलती है कि—(क) पातिव्रत्य एक महान् धर्म है। यह एक महान् तपके बराबर है। (ख) सती स्त्रीका पति बड़े-से-बड़े संग्रामको जीत सकता है। (ग) धोखा देनेवालेको दण्ड मिलता है। (यह भी कथा है कि वृन्दाके शापसे भगवान्को शालग्राम होना पड़ा और वृन्दा तुलसी हुई जो उनके मस्तकपर चढ़ती है। इसके अनुसार शिक्षा यह है कि सतीके साथ छल करनेवालेकी दशा ऐसी होती है, उसे जड़-पत्थर बनना पड़ता है। वा, जब भगवान्को पाषाण बनना पड़ा तब साधारण मनुष्यको न जाने क्या होना पड़े!) (घ) छल और कपटका परिणाम बहुत बुरा होता है। (ङ) सज्जन वही हैं जो अपनी हानि करके भी दूसरोंको लाभ पहुँचाते हैं। (श्रीरामहर्षलालजी)।

एक जनम कर कारन एहा। जेहि लगि राम धरी नर देहा॥ ३॥
प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी॥ ४॥

अर्थ—एक जन्मका कारण यह है कि जिसके लिये श्रीरामजीने मनुष्य-शरीर धारण किया॥ ३॥ (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं) हे मुनि! सुनो। प्रभुके प्रत्येक अवतारकी अनेकों कथाएँ कवियोंने वर्णन की हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ '*एक जनम*......*राम धरी*......' इति। जय-विजय भक्त थे। जब उनके उद्धारके लिये जन्म लिया तब शिवजीने श्रीरामजीको '*भगत अनुरागी*' विशेषण दिया, यथा—'*धरेउ सरीर भगत अनुरागी।*' जलंधर भक्त न था, इसीसे यहाँ '*भक्तानुरागी*' नहीं कहते, इतना ही भर कह दिया कि श्रीरामजीने नर-देह धारण की। ☞इस कल्पकी कथा यहाँ समाप्त की।

टिप्पणी—२ (क) '*प्रति अवतार*......' इति। यथा—'*कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं॥*' (१। १४०। २) (ख) '*सुनु मुनि*' से यह वाक्य याज्ञवल्क्यजीका भरद्वाजके प्रति जनाया। (ग) '*बरनी कबिन्ह घनेरी*' अर्थात् एक-एक कल्पकी कथा अनेक मुनियोंने वर्णन की है, इसीसे कथाएँ बहुत-सी हो गयीं। (घ) ☞'*असुर मारि थापहि सुरन्ह*......' यह दोहा इस कल्पमें भी चरितार्थ हुआ है। यथा—'*तहाँ जलंधर रावन भएऊ। रन हति राम परम पद दएऊ॥*' यह असुरोंका मारना हुआ। '*एक कलप सुर देखि दुखारे। समर जलंधर सन सब हारे॥*......' इत्यादिमें सुरोंकी रक्षा कही। '*प्रभु सुर कारज कीन्ह*' अर्थात् असुर-वधसे श्रुतिसेतुकी रक्षा हुई। और, '*प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी॥*' यह '*जग बिस्तारहिं बिसद जस*' अर्थात् जगत्में यशका विस्तार कहा गया।

नोट—यहाँतक तीनों बार '*एक*' '*एक*' कहा—यथा—'*एक बार तिन्हके हित लागी*', '*एक कलप एहि बिधि अवतारा।*' (१२३।४) '*एक जनम कर कारन एहा।*' (१२४।३) '*एक कलप सुर देखि दुखारे।*' (१२३। ५) इत्यादि। क्योंकि यदि ऐसा कहते कि एकमें यह कारण था, दूसरेमें यह, तीसरेमें यह, तो सम्भव है कि यह समझा जाता कि ये अवतार इसी क्रमसे एकके पीछे एक होते गये हैं। यहाँ केवल हेतु बताया है न कि क्रम। पूर्व कह आये हैं कि '*रामजनम कर हेतु अनेका*' इनमेंसे दो-एक कहता हूँ। इसी कथनानुसार तीन कल्पोंकी कथा कही, कौन किस कल्पकी है, वा, कौन पहले है, कौन पीछे, इससे यहाँ प्रयोजन नहीं रखा। पुनः एक, दो, तीन गिनती न देकर अगणित सूचित किया। इसीसे अन्तमें '*सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी*' कहा। (मा० पी० प्र० सं०)

'वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णुको वृन्दाका शाप होनेसे रामावतार' यह प्रकरण समाप्त हुआ।

'क्षीरशायी श्रीमन्नारायणको शाप होनेसे श्रीरामावतार'

(तदन्तर्गत)

नारद-मोह-प्रसङ्ग

नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा॥ ५॥
गिरिजा चकित भईं सुनि बानी। नारद बिष्नु भगत पुनि* ग्यानी॥ ६॥

अर्थ—एक बार नारदजीने शाप दिया। एक कल्पमें इस कारणसे अवतार हुआ॥ ५॥ ये वचन सुनकर पार्वतीजी चकित हुईं कि नारदजी तो भगवान् विष्णुके भक्त और फिर ज्ञानी हैं॥ ६॥

टिप्पणी—'*नारद श्राप दीन्ह एक बारा*......' इति। (क) भाव कि एक कल्पमें जलंधरकी स्त्रीने शाप दिया और एक कल्पमें देवर्षि नारदने शाप दिया। ☞कल्पोंकी गिनती नहीं की, कहीं '*एक*' कहा,

* मुनि—१७०४। पुनि—१६६१, १७२१, १७६२। पुनि जानी—को० रा०।

कहीं *'अपर'* कहा। यथा—*'एक कलप एहि बिधि अवतारा। चरित पवित्र किए संसारा॥'* (१२३। ४) *'नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा॥'* (यहाँ),*'अपर हेतु सुनु सैल कुमारी। कहौं बिचित्र कथा बिस्तारी॥'* (१४१। १) *'भरद्वाज सुनु अपर पुनि राम जनम कर हेतु।'* (१५२) श्रीरामजन्मके हेतु अनेक हैं, इसीसे यह कहते नहीं बनता कि यह प्रथम कल्प है, यह दूसरा कल्प है, यह तीसरा है; अतएव इतना मात्र कहा कि एक कल्पमें यह अवतार हुआ। (ख)*'तेहि लगि'* अर्थात् नारदशापके निमित्त।

[वृन्दाने जो शाप दिया वह नारदशापके समान ही है। भेद इतना है कि (वृन्दाने) सर्पराज शेषको भी शाप दिया है। यथा—'**त्वं चापि भार्यां दुःखार्तो वने कपि सहायवान्। भ्रम सर्पेश्वरेणाय यत्ते शिष्यत्वमागतः॥**' (प० पु० उ० खं० १०५। ३०) प० पु० उ० खं० अ० ३से १७ तक जलंधरकी कथा बहुत विस्तारसे है और (अध्याय ९। १०६) तक 'जलंधर' नाम है। कथा एक ही है। कल्पभेदसे कुछ अन्य बातोंमें भी भेद है। इसमें एक महत्त्वकी बात यह है कि जलंधरने भवानीका पातिव्रत्य भ्रष्ट करनेका जब प्रयत्न किया तभी भगवान् क्षीराब्धिनिवासी नारायणने कपटसे सर्पेश्वर शेषको अपना शिष्य बनाकर वृन्दासे छल किया। अपने भक्तके पातिव्रत्यका रक्षण करनेके लिये ही भगवान्को छल करना पड़ा।]

टिप्पणी—२*'गिरिजा चकित भईं……'* इति। (क) (सनकादिक ऋषि भी तो ज्ञानी थे, उनके जय-विजयको शाप देनेपर आश्चर्य क्यों न हुआ ? इस शङ्काका समाधान यह है कि) जय-विजयकी कथा प्रसिद्ध है—*'जय अरु बिजय जान सब कोऊ'* इससे उसमें आश्चर्य नहीं हुआ। [दूसरे, वहाँ सनकादिक मुनियोंका नाम न देकर*'बिप्र स्राप तें दूनौ भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई॥'* (१२२। ५) ऐसा कहा था। केवल 'विप्रशाप' कहा था और विप्र तो शाप दिया ही करते हैं। अतएव आश्चर्य न हुआ था और यहाँ देवर्षि नारदका नाम लिया है, अतः आश्चर्य हुआ। तीसरे, चकित होनेका कारण यह भी हो सकता है कि नारदजी आपके गुरु हैं, यथा—*'गुर के बचन प्रतीति न जेही।'* (८०। ८) गुरुकी निन्दा न सही गयी। उनमें दोष बतानेपर चकित हुईं। इसलिये प्रश्न करती हैं। चौथे, ऐसा भी कहा जाता है कि जय-विजयके शापकी कथा पहलेसे जानती थीं और नारद-शापका प्रसङ्ग न जानती थीं, इसीसे पहले आश्चर्य न हुआ, अबकी हुआ। (मा० पी० प्र० सं०)] यहाँ बड़ा आश्चर्य माना। आश्चर्यका कारण अगले चरणोंमें वे स्वयं प्रकट करती हैं—*'मुनि मन मोह आचरज भारी।'* (ख)*'नारद बिष्नु भगत पुनि ग्यानी'* का भाव कि विष्णुभक्त हैं, भक्त होकर अपने स्वामीको शाप कैसे दिया ?*'पुनि ग्यानी'*—ज्ञानी हैं तब उनको क्रोध कैसा ? क्रोध तो द्वैतबुद्धिसे होता है, ज्ञानीको तो क्रोध होता नहीं। यथा—*'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अग्यान।'* (७। १११) भक्त और ज्ञानी दोनोंमें मोह होना सम्भव नहीं, यथा—*'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।'* (७। १२०) *'भए ग्यान बरु मिटै न मोहू।'* (२। १६९) [भक्त अपने स्वामीको शाप दे, यह असम्भव है, अनुचित है। ज्ञानीको राग-द्वेष नहीं होता तब वह शाप क्यों देगा ? (पं०)]

नोट—१ नंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'इस चौपाईमें किसीका नाम नहीं है कि नारदने किसको शाप दिया। परन्तु कथामें नारदने दो व्यक्तियोंको शाप दिया है, प्रथम हरगणोंको पीछे विष्णुभगवान्को। जब दोनोंमेंसे किसीका नाम नहीं है तब जिसको प्रथम शाप नारदने दिया है उसीके नामसे अर्थ होगा, यह नीति है। हरगणोंके कल्पमें विष्णुभगवान्को शापवश अवतार लेना अर्थ करना कैसी भारी भूल है क्योंकि एक शापसे दो बार भगवान्को दुःख उठाना सिद्ध हो जायगा।'

हमारी समझमें पूर्व और पश्चात्‌के वाक्योंद्वारा हम पता लगा सकते हैं कि शिवजीका इशारा किसकी ओर है। पूर्व प्रसङ्गमें अभी कहे आ रहे हैं कि*'छल करि टारेउ तासु ब्रत प्रभु सुरकारज कीन्ह। जब तेहि जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह॥'* (१२३), *'तासु श्राप हरि दीन्ह प्रमाना। ………एक जनम कर*

कारन एहा॥' उसके बाद ही यह कहते हैं कि *'नारद श्राप दीन्ह एक बारा।'*— इस उद्धरणसे स्पष्ट भाव यही निकलता है कि एकमें जलंधरकी स्त्रीने शाप भगवान्‌को दिया था जिससे श्रीरामजीको नर-देह धरना पड़ा था और एक कल्पमें नारदने भगवान्‌को शाप दिया था जिससे श्रीरामजीको अवतार लेना पड़ा। पार्वतीजीने भी यही समझा है, इसीसे वे तुरत कहती हैं—*'कारन कवन श्राप मुनि दीन्हा। का अपराध रमापति कीन्हा॥'* यदि इनकी समझमें भूल होती तो तुरत शिवजी कह देते।

स्मरण रहे कि यहाँसे लेकर*'एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार।'* (१३९) तक एक ही प्रसङ्ग है—*'यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी'* का उत्तर १३९ पर समाप्त हुआ है। दो पृथक् कल्पोंकी कथाएँ यदि इसमें होतीं तो दो बार *'एक कलप एहि हेतु·········'* यह इनके पर्यायशब्द कहे गये होते—एक बार विष्णुको शाप होनेके साथ ही कहना था, जैसे जलंधरवाले प्रसङ्गमें कहा गया और एक बार हरगणोंके शाप वा शापानुग्रहके बाद कहना था कि *'एहि लगि राम धरी·······'* या इसके समानार्थी शब्द जैसे कि जय-विजयके प्रसङ्गको कहकर कहा था, यथा—*'एक बार तिन्हके हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी॥'* पर यहाँ ऐसा नहीं कहा गया, वरञ्च हरगण और भगवान् दोनोंको शाप देनेके, एवं भगवान्‌के शाप स्वीकार करनेपर हरगणोंके शापानुग्रहके पश्चात् शिवजी कहते हैं कि *'एक कलप एहि हेतु प्रभु·······'*। भगवान्‌के शाप स्वीकार करनेपर ही हरगणोंका शापानुग्रह होकर प्रसङ्ग समाप्त होता, क्योंकि अब अवतारका पूरा ठाट ठट गया, सब सामग्री एकत्र हो गयी—रावण, कुम्भकर्ण, रामावतार, सीताहरण, सबका मसाला मिल गया। यह कथा यहीं समाप्त हो गयी; आगेसे इसका सम्बन्ध नहीं। इसके आगे *'अपर हेतु'* से दूसरी कथाका प्रारम्भ होता है। अतएव यह निर्विवाद सिद्ध है कि भगवान्‌को जो नारदका शाप हुआ उसीसे हरगणोंका उद्धार हुआ है। एक कल्पका शाप दूसरे कल्पके रावणादिके लिये होना एक अनोखी और अविश्वसनीय बात होगी।

यह इस दासका अपना और बहुत-से साहित्यज्ञोंका मत है और पाठकोंको जो ठीक जान पड़े वही उनके लिये ठीक है।

अब दूसरी बात जो यह कही गयी है कि 'एक शापसे दो बार भगवान्‌को दुःख उठाना सिद्ध हो जायगा', उसके विषयमें यह कहना अयोग्य न होगा कि—(१) एक तो यह बात ठीक नहीं जँचती कि एक कल्पकी बात दूसरे कल्पमें जाय। प्रत्येक कल्पमें एक रावण होता है और उसके वधके लिये श्रीरामजीका अवतार होता है, यथा—*'कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं॥'* यदि यह मानें कि हरगण-रावणके लिये नारदशापसे भगवान्‌का अवतार नहीं हुआ, तब यह स्पष्ट है कि एक ही कल्पमें दो बार रावण हुए और दो बार भगवान्‌का अवतार हुआ, नहीं तो यह मानना पड़ेगा कि एक कल्पमें शाप हुआ दूसरे कल्पके लिये, जो ठीक नहीं।—*'हरि प्रेरित जेहि कलप जोइ जातुधानपति होइ।·······'* (१७८) से स्पष्ट है कि कल्पमें एक ही रावण होता है।

(२) भगवान्‌को एक शापसे दो बार क्या अनेक बार दुःख उठाना पड़ता है। भक्तके लिये वे क्या नहीं करते? अम्बरीषमहाराजके लिये*'जनमेउ दस बार।'* जय-विजयके लिये चार बार अवतरे। इत्यादि।

(३) एक ही कल्पमें अवतारके अनेकों कारण उपस्थित हो सकते हैं और होते ही हैं। कोई जरूरी नहीं कि एक ही हो—*'राम जनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका॥'*, *'हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥'* हरगणवाले कल्पमें भी कई हेतु उपस्थित हो गये—नारदमोहनिवारण, हरगणोद्धार, भगवान्‌को शाप इत्यादि।

यह भी स्मरण रहे कि यहाँ जो 'विष्णु' 'रमापति' 'हरि' शब्द आये हैं वे सब एक उन्हीं क्षीरशायी भगवान्‌के लिये आये हैं जिनका नारदमोहप्रसङ्गसे सम्बन्ध है, यथा—*'नारद बिष्नु भगत पुनि ज्ञानी'* कहकर कहा है *'का अपराध रमापति कीन्हा'*, *'बड़ रखवार रमापति जासू'*, *'जिमि यह कथा सुनायहु मोही॥ तिमि जनि हरिहिं सुनावहु कबहूँ'*, *'छीरसिंधु गवने मुनिनाथा'*, *'हरि सन माँगौं सुंदरताई'*, 'दुलहिन लै गे लच्छि-

निवासा', 'सपदि चले कमलापति पाहीं॥ देहउँ श्राप कि मरिहउँ जाई।' 'धरिहहिं बिष्नु मनुज तनु तहिआ॥ समर मरन हरि हाथ तुम्हारा।'

श्रीपरमहंसजी लिखते हैं कि नारदशापसे अवतार लेनेका 'अनुमान करना गलत है क्योंकि दूसरे कल्पमें भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि *'नारद बचन सत्य सब करिहौं।'* दूसरा प्रमाण स्वयं नारदजीका वचन है कि *'मोर शाप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा॥'*

इसके सम्बन्धमें उसी प्रसङ्गमें लिखा गया है। यहाँ केवल पाठकोंसे यह कहना है कि 'कौन रामावतार ऐसा है जिसमें नारद-वचन सत्य न किया गया हो?' सभीमें तो नरतन धारण करना पड़ा, सभीमें तो सीताहरण और विलाप हुआ और सभीमें वानरोंने सहायता की। ये ही तीन शाप तो थे? उपर्युक्त वचन प्रत्येक कल्पमें सत्य होते ही हैं तब तो आकाशवाणी यथार्थ ही है। उसमें शङ्का उठती ही नहीं।

कारन कवन श्राप मुनि दीन्हा। का अपराध रमापति कीन्हा॥ ७॥
यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी। मुनि मन मोह आचरज भारी॥ ८॥

अर्थ—मुनि (देवर्षि नारद) ने किस कारण शाप दिया? लक्ष्मीपति भगवान्ने क्या अपराध किया? ॥ ७॥ हे त्रिपुरारि! यह प्रसङ्ग मुझसे कहिये। मुनिके मनमें मोह होना बड़े आश्चर्यकी बात है॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'कारन कवन……'* इति। (क) भाव कि मुनि मननशील होते हैं (शान्त होते हैं), उनका शाप देना असम्भव-सा है (क्योंकि शाप तो क्रोधसे होता है और क्रोध इष्टहानिरूपी अपराधसे होता है)। भगवान् भक्तवत्सल हैं, वे किसीका अपराध नहीं करते। करेंगे क्यों? वे तो श्रीपति हैं, उनको तो किसी बातकी कमी नहीं जो वे किसीका अपराध करते। अपने यहाँ कमी होनेसे ही दूसरेका अपराध होता है अतः यह बात भी असम्भव है। क्या कमी थी जिससे उन्होंने अपराध किया? [पंजाबीजी भी लिखते हैं कि *'रमापति'* कहनेका भाव यह है कि सब उपाधियाँ लक्ष्मीसे होती हैं सो वह तो उनकी दासी है। तब भला उनको उपाधि कौन कर सकता है। पुनः शान्तको क्रोध नहीं होता, अतः मुनिको क्रोध क्यों होने लगा। (वै०)]

टिप्पणी—२ *'यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी।……'* इति। (क) श्रीशिवजीने यहाँतक दो कल्पोंकी कथा संक्षेपसे कही थी और यह प्रसङ्ग एक ही चौपाई अर्थात् दो ही चरणोंमें इतना ही मात्र कहकर कि *'नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा॥'* समाप्त कर दिया था। इसीसे श्रीपार्वतीजी कहती हैं कि यह प्रसङ्ग मुझसे विस्तारपूर्वक कहिये। अर्थात् शापका सम्पूर्ण प्रसङ्ग वर्णन कीजिये, 'किस कारणसे शाप दिया? क्या अपराध भगवान् रमापतिने किया था जो मुनिने शाप दिया? मुनिके मनमें मोह कैसे उत्पन्न हो गया?' इत्यादि सब प्रसङ्ग कहिये; क्योंकि मुझे बहुत ही आश्चर्य और उत्कण्ठा है। (ख) *'पुरारी'* का भाव कि आप त्रिपुर ऐसे भारी दैत्यके नाशक हैं, मेरा सन्देह भी उसीके समान बड़ा भारी है, इसे भी निवृत्त कीजिये। (ग) *'मुनि मन मोह'*—[भाव कि मोहके बिना अज्ञान नहीं और अज्ञान बिना इष्टको शाप नहीं दे सकते। (वै०)] *'आचरज भारी'* का भाव कि विष्णुभक्त और उसपर भी जो ज्ञानी भक्त हो, उसको ही मोह नहीं होता; यथा—*'सुनहु भगतिमनि कै प्रभुताई॥ रामभगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर॥ परम प्रकास रूप दिन राती। मोह दरिद्र निकट नहिं आवा॥'* (७। १२०) *'सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें। ग्यान बिराग हृदय नहिं जाकें॥'* (१। १२९) (अर्थात् जिसके ज्ञान-वैराग्य नहीं होते उसीके मनमें मोह होता है, ज्ञानी एवं विरक्तोंको मोह नहीं होता।)

दोहा—बोले बिहँसि महेस तब ज्ञानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥
सोरठा—कहौं राम गुन गाथ भरद्वाज सादर सुनहु।
भव भंजन रघुनाथ भजु तुलसी तजि मान मद॥ १२४॥

अर्थ—तब महादेवजी हँसकर बोले कि न कोई ज्ञानी है, न मूढ़। श्रीरघुनाथजी जब जिसको जैसा कर देते हैं तब वह उसी क्षण वैसा ही हो जाता है।* (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) हे भरद्वाजजी! मैं श्रीरामजीके गुणोंकी कथा कहता हूँ, तुम आदरपूर्वक सुनो। तुलसीदासजी कहते हैं (रे मन!)मद और मानको छोड़कर भवके नाशक श्रीरघुनाथजीका भजन कर॥ १२४॥

टिप्पणी—१ *'बोले बिहँसि'''''* इति। (क) पार्वतीजीने नारदको ज्ञानी कहा, ज्ञान और ज्ञानीपर उनकी इतनी आस्था देख शिवजी हँसे। [पुनः, भाव कि अभी तो तुमने शापकी ही बात सुनी है, उनके साथ तो बड़े-बड़े कौतुक हुए हैं, जो हम आगे कहेंगे, तब तो तुम और भी चकित होगी। अथवा, इस समय तुम अपने उपदेष्टाकी बात सुनकर चकित हुई हो और अपनी बात भूल गयी कि तुमको कैसा भारी मोह हुआ था, तुम भी तो ज्ञानवान् रही हो पर मोह-पिशाचने तुम्हें ऐसा ग्रसा कि इस जन्ममें भी साथ लगा रहा। (पं०) अथवा, मायाका प्राबल्य विचारकर हँसे कि तुम तो नारदकी कहती हो, नारदके बाप ब्रह्मा और मैं भी तो मोहके वश हो अनेक नाच नाच चुके हैं। भगवान्‌की इच्छा प्रबल है—*'हरि इच्छा भावी बलवाना'*। (ख) *'ज्ञानी मूढ़ न कोइ'* इति। भाव कि ज्ञानी अथवा मूढ़ कोई नहीं है। ज्ञान और मोह दोनोंके प्रेरक वे ही हैं। यह सब श्रीरघुनाथजीका खेल है; जब जिसको जैसा चाहें बना दें। यथा—*'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन। अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहिं प्रबीन॥'* (७। १२२) *'बंध मोच्छ प्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव।'* (३। १५) उदाहरणार्थ ध्रुवजीको लीजिये। ये बिलकुल (निरे) अबोध बालक थे। श्रीहरिने अपने वेदमय शङ्खसे उनके कपोलको छूकर उनको तत्काल ही दिव्य वाणीकी प्राप्ति करा दी तथा सब विद्याओंका ज्ञाता बना दिया—'''**ब्रह्ममयेन कम्बुना पस्पर्श बालं कृपया कपोले॥**'(भा० ४। ९। ४) ☞ जीवको ज्ञानकी सीमा बना देनेपर जब उसे अपने ज्ञानका अभिमान हो जाता है तब भक्तवत्सल प्रभु तुरन्त ही उस अभिमानको तोड़नेका उपाय रच देते हैं, जिससे वह सुधर जाय, शुद्ध हो जाय, फिर भुलावेमें न पड़े। यथा—*'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥ संसृतमूल सूल प्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना॥ ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥ जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥'* (७। ७४) यही 'गुणगाथा' है जो शिवजी पार्वतीजीसे और याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजीसे कह रहे हैं। इसीको गोस्वामीजी उपदेश मानकर अपने व्याजसे सबको उपदेश कर रहे हैं। (मा० पी० प्र० सं०)] (ग) *'जेहि जस रघुपति करहिं जब'''* अर्थात् उनकी इच्छासे ज्ञानी मूढ़ हो जाता है और मूढ़ ज्ञानी हो जाता है। (घ) *'सो तस तेहि छन होइ'* का भाव कि (यों तो) ज्ञानीका मूढ़ और मूढ़का ज्ञानी हो जाना जल्दी नहीं होता (यह परिवर्तन होनेमें समय लगता है) परन्तु रघुनाथजीके करनेसे तत्काल हो जाता है, जिसे वे जिस क्षणमें चाहें ज्ञानीसे मूर्ख और मूर्खसे ज्ञानी बना दे सकते हैं। ज्ञानी नारदको क्षणभरमें मूढ़ बना दिया, यथा—*'माया बिबस भए मुनि मूढ़ा।'* और फिर क्षणभरमें ही पुनः ज्ञानी बना दिया; यथा—*'जब हरि माया दूरि निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी॥'* (१३८। १)

बैजनाथजी—*'ज्ञानी मूढ़ न कोइ'* अर्थात् चराचर जीव जड़-चेतन मिले हुए हैं इसीसे कोई न तो शुद्ध ज्ञानी है और न कोई शुद्ध मूढ़ ही है, क्योंकि शुद्ध ज्ञान तो ईश्वरहीमें है और मूढ़ता मायामें है और ईश्वरांश जीव मायाके वश है, इससे न ज्ञानी ही है न मूढ़। यथा—*'ज्ञान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर॥'* रघुपतिका भाव कि भगवान् रघु (=जीव) के पति (स्वामी) हैं अतः जीवका धर्म है कि प्रभुके सम्मुख रहे जिसमें प्रभु मायाको रोके रहें जिससे वह (जीव) सज्ञान बना रहे। जब जीव अपना धर्म छोड़ श्रीरामविमुख होता है तब प्रभुकी कृपा रुक जाती है और जीव मूढ़ हो जाता है।

श्रीपोद्दारजी—इस प्रसंगपर यह शङ्का उठायी जाती है कि 'जब श्रीरघुनाथजीके बनाये ही प्राणी ज्ञानी

---

* विनायकी टीकाकार एक अर्थ यह लिखते हैं कि—'ज्ञानी पुरुष बहुधा मूर्खता नहीं करते (परन्तु उनके सुधार आदिके निमित्त) ईश्वर जब जिसको जैसा चाहें उसे वैसा बना सकते हैं। भाव यह कि वे यदि चाहें तो ज्ञानीसे मूर्खताका और मूर्खसे ज्ञानीका काम करा सकते हैं।'

या मूढ़ बनता है, तब प्रयत्नपूर्वक साधन करनेकी क्या आवश्यकता है? वह तो व्यर्थ ही हो जाते हैं।' इसपर कुछ विचार किया जाता है। यह सिद्धान्त है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि एकमात्र श्रीभगवान् ही सर्वेश्वर एवं सर्वशक्तिमान् हैं। उनकी इच्छाके बिना, उनके सहारेके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। तब बिना उनकी इच्छाके ज्ञानी-मूढ़ तो बन ही कैसे सकता है। वे ही चेतनको जड़ और जड़को चेतन बनानेवाले हैं। इसलिये संसारके सब योगक्षेमोंको उन्हींपर छोड़कर केवल भजन-ही-भजन करना चाहिये। एकमात्र उन्हींकी कृपा एवं सन्निधिका अनुभव करते हुए निरन्तर उन्हींमें स्थित रहना चाहिये।

यह तो हुई सिद्धान्तकी बात, अब व्यवहारकी बात लिखी जाती है। भगवान् जो किसीको ज्ञानी या मूढ़, जड़ अथवा चेतन बनाते हैं सो क्या केवल अपनी स्वतन्त्र इच्छासे ही बनाते हैं अथवा कुछ और कारण होता है? क्या उनकी इच्छा विषम होती है? क्या उनकी कृपा सबपर समान नहीं है? परन्तु यह कैसे सम्भव है? वे सबपर समान कृपा रखते हैं, सबका हित चाहते हैं और वैसी ही प्रार्थना पूर्ण करते हैं जिससे परिणाममें उसका कल्याण हो। जीवोंके शुभाशुभ कर्म और अधिकारके अनुसार ही उनकी विधि-व्यवस्था होती है। कहा है—*'सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फलु हृदयँ बिचारी॥'*

जिन्हें अपने कर्तृत्वका अभिमान है, उन्हें कर्मके बन्धनमें रहना ही पड़ेगा। परन्तु जिन्होंने कर्मबन्धनका परित्याग करके भगवान्‌की शरण ली है उनका भार तो भक्तवत्सल भगवान्‌पर है ही। उनकी अभयवाणी है—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** नारदके जीवनमें भी भगवान्‌की शरणागति है। जब-जब उनके मनमें शरणागतिके विपरीत कोई भाव आया तब-तब भगवान्‌ने उसे दूर किया। मूलमें ही यह कथा आयी है कि कामपर विजय प्राप्त करनेके पश्चात् क्रोध न आनेके कारण नारदके मनमें कुछ अभिमान आ गया था, जो कि शरणागतिका विरोधी है। भगवान्‌ने देखा कि *'उर अंकुरेउ गर्ब तरु भारी।'* अब भगवान् क्या करेंगे! उन्होंने निश्चय कर लिया। *'बेगि सो मैं डारिहौं उखारी। पन हमार सेवक हितकारी॥'* ····फिर जो उनकी दशा हुई वह मूलग्रन्थमें ही वर्णित है। शंकरजीके मनमें वे सभी बातें आ रही थीं और उन्होंने हँसते हुए कह दिया कि शाप देनेमें ऋषिका कोई दोष नहीं था, भगवान्‌की इच्छा ही वैसी थी। वास्तवमें भगवान्‌को अवतार लेकर लीला करनी थी, उसके साथ यदि एक सेवकके मूढ़तासे कहे हुए वचन भी सफल हो जायँ तो मनोरञ्जनकी एक और सामग्री बन जाय।

भगवान् ही सब कुछ करते-कराते हैं, यह केवल वाणीसे कहकर जो लोग अपने पापोंका समर्थन करते हैं, वे नारकीय जीव हैं। उन्हें अभी बहुत दिनोंतक संसारमें भटकना अवशेष है। क्योंकि भगवान्‌की इच्छासे कोई अच्छा कर्म बन जाता है उसे तो वे अपना किया हुआ कहते हैं और बुरे कर्मोंको भगवान्‌पर थोप देते हैं। उन्हें ध्यान रखना चाहिये कि तत्त्वज्ञानी ऊँचे भक्तोंके जो सिद्धान्त हैं उनको पापी हृदय समझ ही नहीं सकता। पहले वे प्रयत्न करके *'गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा'* के अनुसार आचरण करेंगे तब उनका हृदय शुद्ध होगा और वे उस बातको समझ सकेंगे। ऊँचे अधिकारियोंके लिये जो बात कही गयी उसे अपने पापी जीवनमें घटाकर पापको प्रश्रय देना सर्वथा पतनका कारण है। यदि अपने जीवनको सुधारना है तो पापकर्मोंसे बचकर पूरी शक्तिसे भगवान्‌के भजन-साधनमें और कर्त्तव्यकर्ममें लग जाना चाहिये। (कल्याण १३-३)

प० प० प्र०—इस दोहेमें *'ज्ञानी मूढ़ न कोइ'* इत्यादि जो सिद्धान्त कहा है वह साधारण विषयी जीवोंके लिये नहीं है। सतीजी, पार्वतीजी, नारदजी, गरुड़जी, लोमशजी इत्यादि महान् भगवद्भक्तोंके लिये ही यह वचन है। अन्य पामर जीव तो *'मायाबस परिछिन्न जड़'* हैं ही। वे अविद्यामें पड़े हैं। अतः यह ध्यानमें रखना चाहिये कि अन्य जीव तो अपने कर्मानुसार ज्ञानी या मूढ़ हैं। कोई यह (न)मान ले कि भगवान्‌ने मुझको मूढ़ बनाया। ज्ञानी या भक्त भी यह न मान लें कि हम अब मुक्त हो गये, हमको कुछ डर नहीं है।—*'दुहुँ* ***कहँ काम क्रोध*** *रिपु आही।'* (३। ४३। ९) ***'जे राखे रघुबीर ते उबरे*** *तेहि काल महँ',* जबतक भगवान्‌की कृपा बरसती है तभीतक कोई ज्ञानी या भक्त रह सकता है। पर

जब किसी ज्ञानी या ज्ञानी भक्तसे कोई अनुचित कार्य, दोष या पाप इत्यादि होता है, तब उनको दोष देना उचित नहीं है। सती-मोह-प्रसंगमें यही उपदेश दिया है।

नोट—१ ज्ञानी और मूढ़ उपमानोंका एक ही धर्म ठहराना कि जब जिसको रघुपति जैसा कर दें वह वैसा हो जाता है 'द्वितीय तुल्ययोगिता अलङ्कार' है। (वीर)

नोट—२ ***'भरद्वाज सादर सुनहु'*** इति। (क) इस ग्रन्थमें जहाँ भक्ति और ज्ञानकाण्डका मेल होता है वहाँ श्रीशिव-पार्वतीका और जहाँ भक्ति और कर्मका मेल होता है, वहाँ भुशुण्डि-गरुड़-संवादका प्रसंग लगाया गया है। यहाँ कर्मकी प्रधानता दिखानी है। अतएव याज्ञवल्क्य-भरद्वाजका प्रसंग लगाया गया। (प्रोफे० दीनजी) (ख) भरद्वाज मुनिको सावधान करनेका एक कारण यह कहा जाता है कि 'नारदजीके शिष्य वाल्मीकिजी हैं और वाल्मीकिजीके भरद्वाज। तात्पर्य कि याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि तुम्हारे दादा गुरुकी कथा कहता हूँ, उन्हें भी मोह हुआ था, सो सावधान होकर सुनो।'

टिप्पणी—२ ***'कहौं राम गुन गाथ'''''*** इति। ☞याज्ञवल्क्यजी भरद्वाज मुनिसे कहते हैं कि 'राम-गुण गाथा' सुनो और 'श्रीरामजीको भजो'—यह उपदेश दे रहे हैं। इस उपदेशमें गोस्वामीजी स्वयं भी सम्मिलित हो जाते हैं—***'भजु तुलसी तजि मान मद।'*** अर्थात् यह उपदेश वे अपने ऊपर अपने लिये भी मान लेते हैं (मानो) याज्ञवल्क्यजी यह उपदेश उन्हें भी कर रहे हैं कि 'हे तुलसी!' मान-मद छोड़कर श्रीरघुनाथजीका भजन कर जिसमें तेरा भी भवभञ्जन हो, भव छूटे, क्योंकि श्रीरघुनाथजी भवभञ्जन हैं।'

टिप्पणी—३ ***'भजु तुलसी तजि मान मद'*** इति। ☞मोह, मान और मद—ये सब भजनके बाधक हैं। मान-मदमें भजन नहीं बनता, इसीसे इनको त्यागकर भजन करनेको कहते हैं। यथा—***'कृषी निरावहिं चतुर किसाना। जिमि बुध तजहिं मोह मद माना॥'*** (४। १५) तात्पर्य यह कि मोह-मद-मान नारद-ऐसे महात्माओंको भी दूषित कर देते हैं। (जैसा आगे कथामें दिखायेंगे) अतएव इनसे सदा डरते तथा दूर रहना चाहिये।

वि० त्रि०—गोसाईंजी अपने मनको सावधान करते हैं कि तू मान-मद छोड़कर भजन कर। भाव कि भजन करनेमें भी तुम्हारा पुरुषार्थ नहीं है, उसकी कृपासे ही तुम भजन करते हो, अतः भजनका श्रेय तुम्हें कुछ नहीं, इसलिये मान-मद छोड़नेको कहते हैं।

हिमगिरि गुहा एक अति पावनि। बह समीप सुरसरी सुहावनि॥ १॥
आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥ २॥

शब्दार्थ—गुहा=गुफा। वह अँधेरा गड्ढा जो पर्वतके नीचे बहुत दूरतक चला गया हो। कन्दरा। यथा—***'कोल बिलोकि भूप बड़ धीरा। भागि पैठ गिरि गुहा गँभीरा॥'*** (१५७। ७)। ***देवरिषि*** (देवर्षि)=नारदमुनि।

अर्थ—हिमालयपर्वतमें एक अत्यन्त पवित्र गुफा है जिसके समीप सुन्दर गङ्गाजी बह रही हैं॥ १॥ परम पवित्र सुन्दर आश्रम देखकर देवर्षि नारदजीके मनको वह अत्यन्त भाया॥ २॥

☞नारदमोह-प्रसंगकी कथा शिवपुराण द्वितीय रुद्रसंहिता अध्याय २से २०में जो दी है उससे मानसमें दी हुई कथा बहुत मिलती-जुलती है। अतः मिलानके श्लोक बराबर यहाँसे हम देते जा रहे हैं। यथा—**'हिमशैलगुहा काचिदेका परमशोभना। यत्समीपे सुरनदी सदा वहति वेगतः॥ तत्राश्रमो महादिव्यो नानाशोभासमन्वितः। तपोऽर्थं स ययौ नारदो दिव्यदर्शनः॥'** (२-३) मानसके ***'अति पावनि', 'सुहावनि', 'परम पुनीत सुहावा'*** के स्थानपर उसमें क्रमशः **'परमशोभना', 'वेगतः'** और **'महादिव्यो नानाशोभासमन्वितः'** हैं।

टिप्पणी—१ ***'हिमगिरि गुहा'''''*** इति। (क) ***'अति पावनि'*** का कारण आगे कहते हैं कि ***'बह समीप सुरसरी सुहावनि'।*** (ख) ***'अति पावनि'*** का भाव कि हिमाचलकी सभी गुफाएँ स्वयं पवित्र हैं, उसपर भी यहाँ परम सुहावनी गङ्गाजी समीप बह रही हैं। इनके सम्बन्धसे वह ***'अति पावनी'*** हो गयी है। (***'सुहावनी'*** से जनाया कि धारा खूब वेगसे बह रही है)।

टिप्पणी—२ *'आश्रम परम पुनीत सुहावा।.....'* इति। (क) ☞ सुहावन पावन स्थानमें संत भजन करते ही हैं। यथा—*'भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिबर मन भावन।'* (१। ४४), *'सुचि सुंदर आश्रमु निरखि हरषे राजिवनैन।'* (२। १२४), *'पहुँचे दूत रामपुर पावन। हरषे नगर बिलोकि सुहावन॥'* (१। २९०), *'है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पंचबटी तेहि नाऊँ॥'* (३। १३) तथा यहाँ *'आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥'* (ख) आश्रममें गङ्गा और गुहा दोनों हैं, इसीसे आश्रममें इन दोनोंके गुण कहे *'परम पुनीत'* भी है और 'सुहावना' भी। [*'सुहावा'* से नाना शोभासमन्वित और *'परम पुनीत'* से महादिव्य जनाया] (ग) *'देवरिषि मन अति भावा'* इति। आश्रम परम पावन और परम सुहावन है, अतएव अति भाया। पुनः भाव कि सुरसरिकी समीपता देखकर मनको भाया क्योंकि ये देवर्षि हैं और गङ्गाजी सुर (देव) सरि हैं। इसीसे मनको भानेमें *'देवरिषि'* नाम दिया। [*'देवरिषि'* नाम यहाँ दिया है। क्योंकि पहले गङ्गाका *'सुरसरी'* देवनदी नाम दिया है। यहाँ देवसरि हैं अतएव देवसम्बन्धसे 'देवर्षि' को भाया ही चाहे। पुनः *'अति भावा'* का भाव कि परम पुनीत होनेसे भाया (अच्छा लगा) और *'परम सुहावन'* भी होनेसे *'अति भावा'।* आश्रम पवित्र होनेका लक्षण यह है कि वहाँ पहुँचते ही स्वतः आनन्द उत्पन्न हो जाता है। (मा० पी० प्र० सं०)]

निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा। भयउ रमापति पद अनुरागा॥ ३॥
सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी। सहज बिमल मन लागि समाधी॥ ४॥

शब्दार्थ—**निरखि**=देखकर। **बिभाग**=पृथक्-पृथक् भाग वा अंश १। १११। २ में देखिये। **बाधना**=बाधा या रुकावट डालना=रोकना। **गति**=चाल, राह, दशा, अवस्था। **श्राप गति बाधी**=शापकी राह वा चाल रुक गयी; शापके प्रमाणित होनेमें रुकावट पड़ गयी।

अर्थ—शैल, नदी और वनके भाग (अलग-अलग) देख उनको रमापतिके चरणोंमें अनुराग हुआ॥ ३॥ भगवान्‌का स्मरण करते ही शापकी गति नष्ट हो गयी। मनके स्वाभाविक ही निर्मल होनेसे समाधि लग गयी॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'निरखि सैल रमापति.........'* इति। नारायणावतारके (वा, जिस कल्पमें क्षीरशायी श्रीनारायणको शाप हुआ उस) कल्पकी कथा कहना चाहते हैं, इसीसे *'रमापति'* पदमें अनुराग होना कहा। पुनः गङ्गाजीको देखकर गङ्गाजनककी सुध आ गयी कि ये भगवान् रमापतिके चरणसे उत्पन्न हुई हैं। यह स्मरण होते ही श्रीरमापतिपदमें अनुराग हुआ। (प्रकृतिकी शान्त शोभा देखकर मन भी शान्त हो जाता है, वनकी श्री देखकर उसके रचयिता श्रीपतिके चरणोंमें अनुराग होता है। वि० त्रि०)

नोट—१ यहाँ उपासकोंकी रीति और उनका स्वभाव भी दिखा रहे हैं। पादोदक देख भगवान्‌के पदकमलका स्मरण हुआ, भक्तिरसका उद्दीपन हुआ। वे अनुरागमें मग्न हो गये। यथा—*'रघुबर बरन बिलोकि बर बारि समेत समाज। होत मगन बारिधि बिरह.....॥'* (२। २२०) भरतजी और सभी समाज यमुनाजीका केवल श्याम रंग देख मग्न हो गये थे। पुनः, यथा—*'देखत स्यामल धवल हलोरे। पुलकि सरीर भरत कर जोरे॥'* (२। २०४) त्रिवेणीजीमें यमुनाजलका रंग देख श्रीरामचन्द्रजीका और गङ्गाजीका जल देख श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीका स्मरण हो उठा जिससे विरहाग्नि बहुत भड़क उठी।

टिप्पणी—२ एक बार देखना प्रथम कह चुके हैं, यथा—*'देखि देवरिषि मन अति भावा'।* अब यहाँ पुनः देखना लिखते हैं—*'निरखि सैल.....'।* इससे यह पाया जाता है कि यह *'सरि'* गङ्गाजीसे पृथक् और दूसरी सरि है। *'सैल सरि'* से पर्वतकी उस नदीसे तात्पर्य है जो झरनोंसे पैदा होती है।

नोट—२ तपके लिये घोर वन, भोजनके लिये फल-फूलवाले वृक्ष भी जिसमें बहुतायतसे मिल सकते हों और स्नान-पानके लिये नदीका जल इन सब बातोंका यहाँ सुपास था जो भजनके लिये आवश्यक हैं। एकान्त रमणीय स्थान देख भक्तोंको भजन सूझता है और विषयी लोगोंमें उससे कामोद्दीपन होता

है। *'बिभाग'* पद देकर सूचित किया कि शैल, सरि, वन सबकी शोभा पृथक्-पृथक् देखी। *'सैल सरि बिपिन बिभाग'* पर वाल्मीकि-आश्रमका वर्णन देखिये। यथा—*'राम दीख मुनि बासु सुहावन। सुंदर गिरि कानन जल पावन॥ सरनि सरोज बिटप बन फूले। गुंजत मंजु मधुप रस भूले॥ खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं॥ सुचि सुंदर आश्रम निरखि हरषे राजिवनैन।*'''''

नोट—३ श्रीबैजनाथजी यह शंका उठाकर कि 'क्या नारदजी पहले स्मरण न करते थे? क्या उनको पहले अनुराग न था?' उसका समाधान यह करते हैं कि 'पहले स्मरणमें सदा देह-व्यवहारकी सुध बनी रहती थी, इस समय देहकी सुध-बुध न रह गयी, आत्मदृष्टि तदाकार हो गयी, निर्विकल्प समाधि लग गयी।'

☞उपदेश—भगवद्भजन एकान्त सुन्दर और पवित्र आश्रममें करना चाहिये। भगवद्भजनसे बड़ी-बड़ी बाधाएँ नष्ट हो जाती हैं। अतएव भगवद्भजनका नियम प्रारम्भ कर दीजिये।

टिप्पणी—३ *'सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी'* इति। (क) दक्ष प्रजापतिके शापकी गति बाधित हुई। [अर्थात् दक्षने जो शाप दिया था कि तुम एक जगह स्थिर न रह सकोगे, घूमते ही तुम्हारा समय बीतेगा, हरिस्मरणसे वह शाप या यों कहिये कि शापका प्रभाव नष्ट हो गया, उनकी गति रुक गयी। ☞यहाँ यह बताते हैं कि प्रेमसे जो हरिका स्मरण करता है, शाप उसका कुछ नहीं कर सकता]। उनका तन स्थिर हो गया और मन भी स्थिर हो गया।

नोट—४ विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि पहिले 'काल' की एक कन्या दुर्भगा नामकी पतिकी खोजमें सर्वत्र फिरी; पर उसे किसीने न स्वीकार किया। निदान एक समय नारदमुनिको पृथ्वीपर देख उन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचारी जानकर भी उसने उनसे कहा कि तुम मेरे पति बनो। नारदमुनिने इसे स्वीकार न किया। तब उसने उन्हें यह शाप दिया कि तुम किसी स्थानमें बहुत देर न रह सकोगे।

यह कथा कहाँकी है, इसका प्रमाण उन्होंने नहीं दिया है। दक्षप्रजापतिके शापकी कथा भागवतमें है। उनके पुत्रोंको बहकाया इसीपर उन्होंने शाप दे दिया। यथा—'**चुक्रोध नारदायासौ पुत्रशोकविमूर्च्छितः। देवर्षिमुपलभ्याह रोषाद्विस्फुरिताधरः॥ अहो असाधो साधूनां साधुलिङ्गेन नस्त्वया। असाध्वकार्यर्भकाणां भिक्षोर्मार्गः प्रदर्शितः ॥'''''कृतवानसि दुर्मर्ष विप्रियं तव मर्षितम्॥ तन्तुकृन्तन यन्नस्त्वमभद्रमचरः पुनः। तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद् भ्रमतः पदम्॥**' (६। ५। ३५-३६, ४२-४३) अर्थात् दक्ष पुत्रशोकसे मूर्च्छित होकर नारदजीपर अत्यन्त कुपित हुआ, क्रोधमें उसके होंठ फड़कने लगे। रे दुष्ट! ऊपरसे साधु-वेश धारण करनेवाले तूने मेरे साथ बहुत बुरा बर्ताव किया जो मेरे स्वधर्मपरायण पुत्रोंको भिक्षुकोंके मार्गका उपदेश दिया। तूने जो पहले असह्य अप्रिय किया था उसे मैंने सह लिया। हे संतानविनाशक! तूने फिर मेरा अप्रिय किया। इसलिये मैं शाप देता हूँ कि सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते हुए तेरे ठहरनेका कोई निश्चित स्थान न होगा।'

टिप्पणी—४ (क) *'सहज बिमल मन'* अर्थात् मन विषयासक्त नहीं है। विषय ही मल है। यथा—*'काई बिषय मुकुर मन लागी', 'मन मलिन बिषय संग लागे'* (वि० ८२)। (ख) *'सहज बिमल मन लागि समाधी'* का भाव कि समाधि निर्मल मनके अधीन है। यथा—'**मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः। असम्प्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते॥**' (सहज=स्वाभाविक अर्थात् तप आदि उपायोंसे निर्मल बनाया हुआ नहीं, किंतु जन्मसे ही स्वच्छ है)।

वि० त्रि०—*'सुमिरत हरिहि'''''* इति। अर्थात् भगवन्नाम-जप और उसके अर्थकी भावना आरम्भ हुई। इससे प्रत्येक चेतनका अधिगम हुआ और अन्तरायका अभाव हुआ।—'**ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।**' (यो० सू०)

मुनि गति देखि सुरेस डेराना। कामहि बोलि कीन्ह सनमाना॥ ५॥
सहित सहाय जाहु मम हेतू। चलेउ हरषि हिय जलचरकेतू॥ ६॥

अर्थ—नारदमुनिकी यह दशा एवं सामर्थ्य देख इन्द्र डर गया। उसने कामदेवको बुलवाकर उसका बड़ा आदर-सत्कार किया॥ ५॥ (फिर कहा कि) हमारे लिये तुम अपने सहायकोंसहित जाओ। (यह सुन) मीनध्वज कामदेव मनमें हर्षित होकर चला॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'मुनि गति देखि सुरेस डेराना।''''* इति। (क) दक्षके शापकी गति बाधित हुई। यह मुनिकी गति, यह मुनिका सामर्थ्य देख इन्द्र डरा कि इन्होंने अपने भजनके प्रतापसे दक्षप्रजापतिका शाप दूर कर दिया तब हमारा लोक ले लेना इनको कौन मुश्किल (कठिन) है, (यह इनके लिये कौन बड़ी बात है? यह तो इनके बायें हाथका खेल है)। (ख) *'कामहि बोलि कीन्ह सनमाना'* इति। [राजा यदि किसी सेवकको अपनी ओरसे बुलाकर उसका सम्मान करे तो समझ लेना चाहिये कि बड़ा कठिन कार्य आ उपस्थित हुआ है, हमारे प्राणोंहीपर आ बननेकी सम्भावना है। (प्रोफे० लाला भगवानदीनजी) जब किसीसे कोई काम निकालना होता है तब आदर-सत्कार करनेकी रीति ही है, विशेषतः शत्रुपर लड़ाई करनेके लिये सुभटोंकी प्रशंसा और उनका सम्मान करनेकी चाल है। वीरोंका आदर-सम्मान करके उनको युद्धमें भेजा जाता है। यथा—*'देखि सुभट सब लायक जाने। लै लै नाम सकल सनमाने॥ भाइहु लावहु धोख जनि आजु काज बड़ मोहि। सुनि सरोष बोले सुभट बीर अधीर न होहि॥'* (२। १९१) पुनश्च यथा कुमारसम्भवे—'**अवैमि ते सारमतः खलु त्वां कार्ये गुरुण्यात्मसमं नियोक्ष्ये। व्यादिश्यते भूधरतामवेक्ष्य कृष्णेन देहोद्वहनाय शेषः॥**' (३। १३) अर्थात् जैसे भगवान्ने शेषमें पृथिवी धारण करनेकी शक्ति देख अपने शरीरको धारण करनेकी आज्ञा दी, वैसे ही तुम्हारा पराक्रम जानकर अपना भारी काम देकर तुम्हारा सम्मान करता हूँ। स्मरण रहे कि शिवजीकी समाधि छुड़ानेमें उसके प्राणपर आ बीतेगी, यह जानकर उस प्रसङ्गमें बड़ी स्तुति उसकी की थी और यहाँ तो उसे बुला भेजा है और आज्ञा दी है।

टिप्पणी—२ [(क) *'सहित सहाय जाहु'* का भाव कि मुनिका भारी महत्त्व देखकर कामदेवको अकेले भेजनेका साहस न हुआ, उसे विश्वास नहीं है कि वह हमारे काममें अकेले सफल हो सकेगा। इसीसे *'सहाय सहित'* जानेकी आज्ञा दी] (ख) *'मम हेतू'* अर्थात् हमारे लिये, हमारे हितार्थ। भाव कि नारदभजन भङ्ग करनेसे हमारा हित होगा, हमारा लोक बचेगा, हमारा इन्द्रपद रक्षित रहेगा। (ग) *'चलेउ हरषि हिय'* इति। *'हरषि'* एक तो इसलिये कि यह स्वामीकी आज्ञा है कि हमारे कार्यके लिये जाओ, उनका यह खास काम है। स्वामीका कार्य करनेमें हर्ष होना ही चाहिये। दूसरे, हर्ष यह सोचकर भी हुआ कि (देवर्षि नारदकी समाधि छुड़ानेसे मेरा और भी अधिक यश और सम्मान होगा, मेरे लिये उनकी समाधि छुड़ाना कौन बड़ी बात है) मैं जाते ही समाधि छुड़ा दूँगा। (उसे सहज ही सफलता प्राप्त करनेका अभिमान है, विश्वास है। अतः हर्षित होकर चला)। तीसरे, वह चलते समय सेना लेकर चला है (यह आगे चलकर वक्ता स्पष्ट कह रहे हैं), अपनी वह सेना देखकर हर्षित हुआ। यथा—*'देखि सहाय मदन हरषाना।'* (१२६। ६), '**सेन बिलोकि राउ हरषाना।**' (१। १५४) (पुनः मुनियोंके भजनमें बाधा डालनेसे इसे हर्ष होता ही है, यह इसका स्वभाव है। अतः '**चलेउ हरषि**' कहा)। (घ) *'हिय'*—हृदयमें प्रसन्नता है। ऊपरसे अपना हर्ष प्रकट नहीं करता, क्योंकि उससे अभिमान जान पड़ता, काममें सफलता न होनेपर लज्जित होना पड़ा] (ङ) *'जलचर केतू'* इति। अर्थात् जिसकी पताकापर *'जलचर'* (मीनका चिह्न) है। पताका रथके ऊपर होता है। अतः *'जलचर केतू'* कहकर सूचित किया कि रथपर चढ़कर चला। यदि रथपर चढ़कर न चला होता तो पताकाके वर्णन करनेका कोई प्रयोजन न था। (पताका रथका एक अङ्ग है, यथा—*'सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥'* (६। ७९), *'रथ सारथिन्ह बिचित्र बनाए। ध्वज पताक मनि भूषन लाए॥'* (१। २९९), *'रथ बिभंजि हति केतु पताका।'* (७। ९१), विशेष भाव *'कोपेउ जबहिं बारिचर केतू।'* (१। ८४। ६) में देखिये।

सुनासीर मन महुँ असि* त्रासा। चहत देवरिषि मम पुर बासा॥ ७॥
जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहि डेराहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—'**सुनासीर**' (शुनासीर)=इन्द्रका एक नाम। **लोलुप**=लोभवश चंचल; लोभी।

अर्थ—इन्द्रके मनमें ऐसा (अर्थात् यह) डर हुआ कि देवर्षि नारद हमारे नगर (अमरावतीपुरी) में निवास (अर्थात् अपना दखल अधिकार जमाना) चाहते हैं॥ ७॥ संसारमें जो लोग कामी और लोभी हैं, वे कुटिल कौएकी तरह सबसे डरते (शङ्कित रहते) हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ '*सुनासीर मन महुँ असि त्रासा*' इति। (क) कामदेवके चले जानेपर ऐसा कहकर जनाते हैं कि कामको भेजनेपर भी इन्द्रको शान्ति नहीं प्राप्त हुई। देवर्षिका भारी सामर्थ्य देखकर उन्हें विश्वास नहीं होता कि कामदेव नारदजीके मनमें विकार उत्पन्न कर सकेगा। अतएव वह चिन्ताग्रस्त है। इसीसे पुनः सोचने लगा। (अथवा यह कह सकते हैं कि पहले केवल डर कहकर उसे कामदेवके बुलानेका कारण बताया और अब बताते हैं कि इन्द्रको क्या डर था। यह भाव '*असि*' से सूचित होता है)। (कुचालके कारण यहाँ सीधा-सीधा नाम न देकर शुनासीर रूढ़ि नाम दिया। अत्यन्त डर एवं देवर्षिका बड़ा भारी सामर्थ्य दिखानेके लिये पहले 'सुरेश' कहा था। रुद्रसंहितामें भी 'शुनासीर' ही नाम आया है)। (ख) '*मन महुँ*' का भाव कि वह अपना त्रास वचन और कर्मसे किसीपर प्रकट नहीं होने देता। मन-ही-मन संतप्त हो रहा है। वचनसे किसीसे कहता नहीं और उपाय कुछ चलता (या सूझता भी) नहीं; इस तरह मन, वचन और कर्म तीनोंसे त्रास दिखाया।

प० प० प्र०—'*सुनासीर*' नाम सहेतुक है। '**सुष्ठु नासीरं सेनामुखं यस्य सः सुनासीरः**' (अमरव्याख्यासुधा) भाव कि सुरेशके पास देवोंकी (३३ करोड़) अच्छी सेना है तो भी वह एक निष्काम ब्रह्मलोकनिवासी निर्मोह हरिभक्तसे डर गया। भला ब्रह्मलोकवासी स्वर्गकी इच्छा क्यों करेगा! पर सुरेशके मनमें ऐसा विचार आया कि यदि वे मेरी अमरावती आदि लेनेका विचार करेंगे तो मेरे पास देवोंकी बड़ी अच्छी सेना है (इनके बलपर मैं उन्हें सफल-मनोरथ न होने दूँगा)। इसीसे सुरपतिको कुटिल काक-समान कहा और आगे कुत्तेके समान कादर, निर्लज्ज आदि कहते हैं।

टिप्पणी—२ '*चहत देवरिषि*.....' इति। [क्या त्रास है वह इस चरणमें बताया। '*देवरिषि*' शब्द देकर सूचित करते हैं कि यह विचार उसके मनमें कैसे उठा कि नारदजी सुरलोक (का आधिपत्य) चाहते हैं। '*चहत देवरिषि*' में भाव यह है कि अभी तो देवर्षि ही हैं] तप करके देवर्षि हुए, अब देवराज होना चाहते हैं, इसीसे इन्होंने समाधि लगायी है, नहीं तो अब इन्हें और क्या चाहिये था। (पुनः, '*मम पुरबासा*' का भाव कि उनका बसना ही मेरे प्रभुत्वके लोपका कारण होगा। वे देवर्षि हैं, अतः उनका वैसा ही सम्मान करना पड़ेगा, उनकी आज्ञाके वशवर्ती होना पड़ेगा। दूसरेके आज्ञावशवर्ती हुए तब इन्द्र किस बातके रह जायँगे। वि० त्रि०) 'नारदजी इन्द्रलोककी प्राप्तिकी वासनासे भजन नहीं कर रहे हैं तब इन्द्रको ऐसा भय क्यों प्राप्त हुआ, इस सम्भावित शङ्काका समाधान आगे करते हैं कि '*जे कामी*......।'

टिप्पणी—३ '*जे कामी लोलुप*.....' इति। (क) यहाँ '*कामी*' को काककी उपमा दी। मानसमुखबंदमें भी कामीको काक कहा है। यथा—'*कामी काक बलाक बिचारे।*' (३८। ५) इन्द्रकी रीति कौएकी-सी है, यथा—'*काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥*'(२। ३०२) इसीसे उसके लिये

---

* 'असि' पाठ १६६१ में है अतः इस संस्करणमें हमने यही पाठ रखा है। रा० प० काशिराजकी प्रतिका भी यही पाठ है। अति—भा० दा०, कोदोराम, मा० पी० प्र० सं०। 'अति त्रासा' का भाव कि इन्द्र तो सभी तपस्वियोंसे भयभीत रहता है, सभीका तप देखकर वह शङ्कित-हृदय हो जाता है और नारद एक तो देवर्षि, दूसरे उनका प्रताप प्रत्यक्ष ही देखा जा रहा है कि 'शाप गति बाधी' अतः 'अति त्रास' हुआ।

काककी उपमा दी। विशेष आगे दोहा १२५ में देखिये। [इन्द्रपद वैषयिक सुखकी पराकाष्ठा है। इसलिये कामी, लोलुप और कुटिल कहा। काककी उपमा देकर छली आदि जनाया। छली, यथा—*'सहित सहाय जाहु मम हेतू।'* मलिन, यथा—*'चहत देवरिषि मम पुर बासा।'* *'कतहुँ न प्रतीती'* यथा *'मुनि गति देखि सुरेस डेराना।'* (वि० त्रि०)]

नोट—१ *'मुनि गति देखि.....'* से यहाँतकसे मिलते हुए श्लोक दूसरी रुद्रसंहितामें ये हैं—**'चकम्पेऽथ शुनासीरो मनस्सन्तापविह्वलः॥ ६॥ मनसातिविचिन्त्यासौ मुनिर्मे राज्यमिच्छति। तद्विघ्नकरणार्थं हि हरिर्यत्नमियेष सः॥ ७॥ सस्मार स स्मरं शक्रश्चेतसा देवनायकः। आजगाम द्रुतं कामस्समधीर्महिषीसुतः॥'** (८) मानसके *'सुनासीर' मन असि त्रासा' 'चहत देवरिषि मम पुर बासा'* की जगह श्लोकमें क्रमशः **'शुनासीरः', 'मनस्संतापविह्वलः' 'मुनिर्मे राज्यमिच्छति'** पद आये हैं। चौ० ८ और दोहा २५ वक्ता (शिवजी) की आलोचना है। मानसके *'कामहि बोलि कीन्ह सनमाना'* की जगह **'सस्मार स स्मरं शक्रश्चेतसा देवनायकः.....'** है।

दो०—सूख हाड़ लै भाग सठ स्वान निरखि मृगराज।
छीनि लेइ जनि जान जड़ तिमि सुरपतिहि न लाज॥ १२५॥

शब्दार्थ—**हाड़**=हड्डी। **स्वान** (श्वान)=कुत्ता। **मृगराज**=पशुओंका राजा; सिंह।

अर्थ—जैसे मूर्ख और दुष्ट कुत्ता सिंहको देखकर सूखी हड्डी लेकर भागे और जैसे वह मूर्ख यह समझता है कि कहीं सिंह उसे छीन न ले, वैसे ही देवराज इन्द्रको (यह सोचते हुए कि देवर्षि मेरा राज्य छीन न लें) लज्जा नहीं लगी॥ १२५॥

टिप्पणी—१ यहाँ इन्द्रपुरीका राज्य एवं भोग सूखा 'हाड़' है, इन्द्र श्वान है, नारद मृगराज हैं। देवर्षि एक तो भगवान्‌के निष्काम भक्त हैं, फिर वे ब्रह्मलोकके निवासी हैं जहाँका सुख और ऐश्वर्य इन्द्रलोकसे अनन्तगुण अधिक है, तब वे भला इन्द्रपुरीके सुखकी इच्छा क्यों करने लगे? यह इन्द्रको न समझ पड़ा। इसीसे उसे 'जड़' कहा—*'छीनि लेइ जनि जान जड़।'* इन्द्र सूखी हड्डीके समान भोगको लेकर भागा, इसीसे उसे निर्लज्ज कहा—*'तिमि सुरपतिहि न लाज।'* और महात्माके प्रति अविश्वास और प्रतिकूल कर्म करनेसे *'सठ'* कहा—*'लै भाग सठ।'* ☞भगवान्‌के भजनके आगे इन्द्रपुरीका सुख सूखी हड्डीके समान है।

टिप्पणी—२ इस प्रसङ्गमें इन्द्रको दो उपमाएँ दी गयीं—*'कुटिल काक इव'* और *'सठ स्वान।'* डरनेमें (एवं कुटिलतामें) काककी और (सूखा हाड़ लेकर) भागनेमें श्वानकी। भक्त लक्ष्मीके विलासको भी निषिद्ध समझते हैं। यथा—*'रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥'* (२। ३२४) इसीसे इन्द्रके ऐश्वर्यको *'सूख हाड़'* की उपमा दी। श्वान सिंहके गुण और आहारको नहीं जानता और अपने 'सूखे हाड़' को बहुत (बड़ी न्यामत, भगवान्‌की अपूर्व देन) मानता है, इसीसे उसे 'जड़' कहा।

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'नारदजी समस्त संसार-सुखको त्यागे हुए केवल एक मनरूपी मतवाले हाथीके मारनेवाले भगवद्दास हैं। उनको इन्द्रका राज्य क्या है? अर्थात् संसार-सुख सूखा 'हाड़' है, मन मतङ्ग है और नारद सिंह हैं।

पं० शुकदेवलालजी लिखते हैं कि जैसे कुत्ता सूखी हड्डीको बहुत बड़ा पदार्थ समझता है; वैसे ही इन्द्र नारदकी (देवर्षि, भगवद्भक्त) पदवीके आगे अपने एक मन्वन्तरके राज्यको बड़ा पदार्थ मानता है।

लाला भगवानदीनजी लिखते हैं कि देवेन्द्र किसीकी उत्कृष्टता नहीं सह सकते, इसी तरह नरेन्द्र भी। यह रजोगुणका स्वभाव है, खासियत है।

नोट—२ इन्द्रको काक और श्वान दोनोंकी उपमाएँ अयोध्याकाण्डमें भी उसके शङ्कित-हृदय, छली, कुटिल, मलिन, अविश्वासी और कपट-कुचालकी सीमा तथा पर-अकाज-प्रिय और स्वार्थी स्वभाव होनेमें दी गयी हैं। यथा—*'कपट कुचालि सीवँ सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू॥ काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥.....लखि हिय हँसि कह कृपानिधानू। सरिस*

स्वान मघवान जुवानू॥' (२। ३०२। १-८) यही सब बातें दिखानेके लिये यहाँ ये दोनों उपमाएँ दी गयीं। छल और कुमार्गकी वह सीमा है। अपना कार्य साधना, पराया काज बिगाड़ना यही उसको प्रिय है। यही दिखलाना था।

इस दोहेसे मिलते-जुलते एवं उसपर प्रकाश डालनेवाले दो दोहे दोहावलीमें ये हैं—(१) *'लखि गयंद लै चलत भजि स्वान सुखानो हाड़। गज गुन मोल अहार बल महिमा जान कि राड़॥'* (३८०) अर्थात् हाथीको देखकर कुत्ता सूखी हड्डी लेकर भाग चलता है कि कहीं वह उसके आहारको छीन न ले। क्या वह मूर्ख हाथीके गुण, मूल्य, आहार, बल और महिमाको जान सकता है? कदापि नहीं। (२) *'कै निदरहु कै आदरहु सिंहहिं श्वान सियार। हरष बिषाद न केसरिहि कुंजर-गंजनिहार॥'* (३८१) अर्थात् सिंह तो हाथीका मस्तक विदीर्ण करके खानेवाला है, वह दूसरेका मारा हुआ (शिकार) तो छूता ही नहीं; तब भला वह सूखी हड्डीकी तरफ दृष्टि ही क्यों डालेगा?—ये सब भाव एवं और भी भाव दोहावलीके दोहोंसे मिलान करनेसे भलीभाँति स्पष्ट हो जाते हैं। जैसे कि कुत्तेके आदर वा निरादरसे सिंहको हर्ष वा विषाद नहीं होता, उसी तरह इन्द्र एवं कामदेवके आदर अथवा निरादरसे नारदजीके मनमें हर्ष या विषादसूचक कोई भी विकार न उठा। यथा—*'भयउ न नारद मन कछु रोषा। कहि प्रिय बचन काम परितोषा॥'* यहाँ उदाहरण अलङ्कार है।

महर्षि पाणिनिजीने श्वन्, मघवन् (इन्द्र) और युवन् इन तीनोंका (तद्धितप्रकरणसे भिन्न प्रकरणोंमें) एक-सरीखा रूप प्रदर्शित करनेके लिये अपने प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ अष्टाध्यायीमें एक ही सूत्रमें तीनोंको लिखा है। यथा—**'श्वयुवमघोनामतद्धिते।'** (६। ४। १३३) यह सूत्र इस प्रकरणमें देनेका भाव ही यह है कि इन्द्र और युवापुरुष दोनों प्रत्येक दशामें कुत्तेके समान ही हैं। [कामपरवशता एवं लोलुपतामें इनकी उपमा कुत्तेसे देना उचित ही है परंतु अन्य अवस्थामें नहीं । इसीलिये महर्षि पाणिनिजीने **'अतद्धिते'** शब्द दिया है। पाणिनिके **'अतद्धिते'** कहनेका भाव तद्धितप्रकरणके अतिरिक्त यह है कि जो जवान मनुष्य **तत् हिते** अर्थात् तत् (ब्रह्म) की प्राप्तिके साधनमें लगा है उसकी गणना श्वान और इन्द्रकी समान कोटिमें नहीं करनी चाहिये। (वे० भू०)] लट्टायनसंहितामें भी तीनोंको समान कहा है; यथा—**'समाः श्वयुववासवाः।'** भर्तृहरिजीके **'कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम्। सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते नहि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम्॥'** (नीतिशतक ९) अर्थात् कीड़ोंसे व्याप्त, लारसे भीगे, दुर्गन्ध, निन्दित, नीरस और मांसरहित मनुष्यकी हड्डीको निर्लज्ज कुत्ता प्रेमसे चबाता है तब अपने पास इन्द्रको भी खड़े देखकर शङ्का नहीं करता, वैसे ही नीच पुरुष जिस पदार्थको ग्रहण करता है उसकी निस्सारतापर ध्यान नहीं देता।—इस श्लोकके अनुसार दोहेका भाव यह निकलता है कि निर्लज्ज इन्द्र सूखी हड्डीके समान अपने राज्यको निस्सार नहीं समझता।

तेहि आश्रमहि मदन जब गएऊ। निज माया बसंत निरमएऊ॥ १॥
कुसुमित बिबिध बिटप बहु रंगा। कूजहिं कोकिल गुंजहि भृंगा॥ २॥

शब्दार्थ—**मदन**=कामदेव। **माया**=संकल्प, शक्ति। **निरमएऊ**=निर्माण किया; रचा; उत्पन्न किया। **कुसुमित**= पुष्पित; फूले हुए। **कूजना** (सं० कूजन)=बोलना; मधुर शब्द करना; कुहू-कुहू करना। यथा—*'कूजत पिक मानहु गज माते।'* (३। ३८। ५) *'कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं॥'* (३। ४०) *'कूजहिं खग मृग नाना बृंदा।'* (७। २३) *'बिमल सलिल सरसिज बहुरंगा। जल खग कूजत गुंजत भृंगा॥'* *'गुंजना, गुंजरना'* (सं० गुंज)=भौंरोंका भनभनाना; मधुर ध्वनि निकालना; गुनगुनाना, यथा—*'मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा।'* (३। ४०। १)

अर्थ—जब कामदेव उस आश्रममें गया तब उसने अपनी मायासे वसन्त-ऋतुका निर्माण किया॥ १॥ नाना प्रकारके वृक्ष रङ्ग-बिरङ्गके फूलोंसे खिल उठे (लद गये)। कोयलें कुहू-कुहू कर रही हैं और भौंरें गुंजार कर रहे हैं॥ २॥

नोट—१ कामदेवका प्रसङ्ग *'चलेउ हरषि हिय जलचरकेतू'* (१२५। ६) पर छोड़ा था। बीचमें इन्द्रकी काक-श्वान-इव रीति वा स्वभावका वर्णन करने लगे थे। अब पुनः कामका वृत्तान्त कहते हैं।

नोट—२ यहाँ विघ्न करनेको जाते समय *'मदन'* नाम दिया और अन्तमें लौटते समय भी अर्थात् प्रसङ्गके उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें यही नाम दिया गया है। यहाँ *'मदन जब गयऊ'* और अन्तमें *'गएउ मदन तब सहित सहाई।'* (१२७। २) इस शब्दके प्रयोगमें गूढ़ भाव, आशय और चमत्कार है; वह यह कि यह जाता तो बड़े मदके साथ है—*'चलेउ हरषि····'* पर वहाँ इसकी दाल न गलेगी, इसका 'मद' 'न' रह जायगा। इसी प्रकार श्रीशिवजीकी समाधि छुड़ानेके प्रसङ्गमें कहा गया है। यथा—*'रुद्रहि देखि मदन भय माना।······मदन अनल सखा सही॥ ८६॥ देखि रसाल बिटप बर साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदनु मन माखा॥ ····सौरभ पल्लव मदन बिलोका।'*

टिप्पणी—१ *'······जब गएऊ।·····'* इति। (क) जब आश्रममें गया तब वसन्तका निर्माण किया, इस कथनसे जनाया कि जब नारदजी उस आश्रममें गये थे तब वसन्त-ऋतु न थी; क्योंकि यदि होती तो उसका वर्णन पूर्व ही किया गया होता। जब वे गये थे तब इतना ही कहा था कि *'निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा'* और जब कामदेव वहाँ पहुँचा तब भी वसन्त न था, इसने जाकर अपनी मायासे वसन्त-ऋतुका निर्माण किया। आगे वसन्तका रूप दिखाते हैं। [(ख) इन्द्रने कहा था कि *'सहित सहाय जाहु मम हेतू।'* वह सहाय कौन है, यह यहाँ बताया। पाँच अर्धालियोंमें इसका वर्णन करके तब छठीं अर्धालीमें कहा है कि *'देखि सहाय मदन हरषाना'* अर्थात् यही इसके सहायक हैं।] (ग) *'कुसुमित बिबिध बिटप बहु रंगा'*—विविध प्रकारके वृक्ष फूले हुए हैं, इसीसे बहुत रङ्गके हैं। (घ) *'कूजहिं कोकिल'*—यह कोयलोंका कूजना कुहू-कुहू करना मुनिका ध्यान छुड़ानेके लिये है। कोकिलोंकी कूजसे ध्यानमें विक्षेप होता ही है; यथा—*'कुहू-कुहू कोकिल·····'* (उपर्युक्त)। ये सब उद्दीपन हैं।

चली सुहावनि त्रिबिध बयारी। काम कृसानु बढ़ावनिहारी*॥ ३॥
रंभादिक सुरनारि नबीना। सकल असमसर कला प्रबीना॥ ४॥

शब्दार्थ—**बयारी**=पवन, वायु, हवा। **रम्भा**—एक अप्सरा जो क्षीरसमुद्रसे मथकर प्रकट किये हुए चौदह रत्नोंमेंसे एक रत्न है। **सुरनारि**=देववधूटियाँ, अप्सराएँ। **नबीना**=नवयौवना, नयी उभरती हुई जवानीवाली। **असम**=विषम=पाँच, तीर। **असमसर**=पञ्चबाण। **विषमबाण**=कामदेव। '**कला**'—नृत्य, गान, हाव-भाव-कटाक्ष आदि शृङ्गारके जितने अङ्ग हैं वे ही 'कला' हैं। यथा—'**भावः कटाक्षहेतुश्च शृङ्गारे बीजमादिमम्। प्रेममानः प्रणयश्च स्नेहो रागश्च संस्मृतः॥ अनुरागः स एव स्यादंकुरः पल्लवस्तथा। कलिका कुसुमानीति फलं भोगः स एव च।**····' (सत्योपाख्यान। वै०) विशेष *'सकल कला करि कोटि बिधि हारेउ सेन समेत।'* (१। ८६) में देखिये। **प्रबीना** (प्रवीण)=कुशल, निपुण, पूरा होशियार।

अर्थ—कामाग्निको उकसाने, उभाड़ने, उत्तेजित करनेवाली सुहावनी, (शीतल, मन्द, सुगन्धित) तीनों प्रकारकी वायु चलने लगी॥ ३॥ रम्भा आदि नवयौवना (उठती जवानीवाली) अप्सराएँ जो समस्त कामकलाओंमें निपुण हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'चली सुहावनि त्रिबिध बयारी'* इति। पवन शीतल, मन्द और सुगन्धयुक्त तीन प्रकारका है। यहाँ हवामें तीनों गुण हैं। गङ्गाजलके स्पर्शसे वह शीतल है, वनके वृक्षोंकी आड़से होकर आनेसे मन्द है और फूलोंके स्पर्शसे सुगन्धित है। अथवा, स्वाभाविक ही शीतल, मन्द और सुगन्धित है। यह सब कामदेवकी मायासे निर्मित हुए हैं, अतः बिना कारण स्वाभाविक ही त्रिविधगुणयुक्त हो सकती

* जगावनिहारी—१७२१, १७६२। बढ़ावनिहारी-१६६१, छ०, को० राम, १७०४। शरीरमें काम यदि अल्प भी हो तो त्रिविध बयारि उसे बहुत कर देती है। 'जगावनिहारी' में भाव यह है कि जिनके मन कामकी ओरसे मर गये हैं उनको फिर जिला देती है। मुनियोंके मनमें काम पड़ा सो रहा था उसको जगा देती है।

है। (ख) *'काम कृसानु बढ़ावनिहारी'* इति। अर्थात् कामको प्रज्वलित कर देनेवाली है। कामदेवकी इच्छा है कि नारदमुनि कामासक्त हो जायँ, इसीसे कामदेवने कामाग्निको प्रज्वलित करनेवाली त्रिविध *'बयारि'* चलायी। (*'बयारि'* कामकी दूतिनी भी कही गयी है यथा—*'त्रिबिध बयारि बसीठी आई।'* (३। ३८) (ग) यहाँतक नारदजीके मनमें क्षोभ उत्पन्न करनेके लिये उनको वनकी शोभा दिखायी। यथा—*'लछिमनु देखु बिपिन कै सोभा। देखत केहि कर मन नहिं छोभा॥'* (३। ३७। ३) *'जागइ मनोभव मुएहुँ मन बन सुभगता न परै कही।'* (१। ८६)

नोट—१ वनमें सब वृक्षोंमें सुगन्धित पुष्प खिले हुए हैं। फूलोंकी सुगन्धसे रक्तमें गर्मी पैदा होती है जिससे कामकी जागृति होती है, काम उत्पन्न हो जाता है। कोकिलकी कूज और भ्रमरोंकी गूँज इत्यादि शृङ्गाररसके उद्दीपन विभाव हैं जिनसे काम जाग उठता है। *'त्रिबिध बयारि'* को *'काम कृसानु बढ़ावनिहारी'* विशेषण देकर जनाया कि यह कामकी सच्ची सहायिका है। शीतल-मन्द-सुगन्धित पवन कामाग्निको विशेष प्रज्वलित करता है, इसीसे उसको कामका एक खास एवं सच्चा सखा अन्यत्र कहा गया। यथा—*'सीतल सुगन्ध सुमन्द मारुत मदन अनल सखा सही।'* (१। ८६) ☞कामकी मायाका विस्तार क्रमसे हुआ है। प्रथम वनको शोभायुक्त बनाया गया। रंग-रंगके नाना प्रकारके पुष्पोंसे लदे हुए अनेक प्रकारके वृक्ष, कोयलोंकी कूज और भ्रमरोंकी गूँज यह सब वनकी सुभगता है जिससे काम जाग्रत् हो। तत्पश्चात् *'त्रिबिध बयारि'* का निर्माण कहा गया जो जागे हुए कामको प्रज्वलित कर दे। कामाग्निके प्रज्वलित होनेपर फिर उसे कामासक्त कर देती है। इसीसे आगे अप्सराओंका वर्णन है।

नोट—२ यहाँ पवन, समीर, मारुत आदि शब्द न देकर *'बयारि'* स्त्रीलिंग वाचक शब्दका देना भी साभिप्राय है। पवनादि पुँल्लिग है। पुरुषको देखकर पुरुष नहीं मोहित होता, स्त्रीको देखकर मोहित हो जाता है। अतएव स्त्रीलिंग शब्द देकर जनाया कि इसका (बयारिका) देहमें लगना ऐसा ही है जैसे कोई स्त्री आलिंगन कर रही हो। स्त्रीका स्पर्श कामाग्निको बढ़ाता ही है। पवनसे अग्नि प्रज्वलित होता है अत: काममें अग्निका आरोप करनेसे 'सम अभेद रूपक अलङ्कार' है।

नोट—३ भगवान् शंकरकी समाधि छुड़ानेको जब कामदेव गया था तब प्रथमसे ही उसके मनमें शङ्का थी। यथा—*'संभु बिरोध न कुसल मोहिं'''''। ८३। तदपि करब मैं काज तुम्हारा।'''''चलत मार अस हृदय बिचारा। सिव बिरोध ध्रुव मरनु हमारा॥'* इसीसे उसने वहाँ जानपर खेलकर अपना सारा प्रभाव दिखाया जिससे *'जागइ मनोभव मुएहुँ मन'*। और यहाँ तो उसको विश्वास था कि 'मुनिकी समाधि मैं सहज ही छुड़ा दूँगा' इसलिये यहाँ पूर्ण प्रभाव नहीं दिखाया। दूसरे भगवान् शंकर ईश-कोटिमें हैं और नारदजी 'देवर्षि' ही हैं। इसलिये यहाँ *'बढ़ावनिहारी'* ही कहा गया। अथवा, *'बयारी'* हीके साथ *'बढ़ावनिहारी'* कहकर जनाया कि इसके पूर्व जिन सहायकोंका वर्णन किया गया है, वे कामको जगानेवाले थे और यह उसे प्रज्वलित करनेवाली है।

टिप्पणी—२ *'रंभादिक सुरनारि'''''* इति। (क) यहाँ *'निज माया बसंत निरमएऊ'* से लेकर *'काम कृसानु'''''* तक कामका बल कहा, अब उसका परम बल कहते हैं, यथा—*'एहि कें एक परम बल नारी। तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी॥'* (३। ३८) (ख) [रम्भाको आदि (आरम्भ) में दिया क्योंकि यह चौदह रत्नोंमेंसे एक है। और 'आदि' शब्दसे उर्वशी, मेनका प्रभृति अप्सराओंका भी वहाँ होना जनाया] *'सुरनारि'* से दिव्य और *'नबीना'* से सुन्दर एवं षोडशवर्षकी युवा अवस्थावाली सूचित किया। नवयौवना होनेमें सब कामकला लगती है; इसीसे *'नबीना'* कहा। (पुनः भाव कि बच्चा पैदा होनेसे शरीरकी कान्ति जाती रहती है, यथा—*'जननी जोबन बिटप कुठारू'* पर ये सदा नवयौवना ही बनी रहती हैं। अप्सराओंके सुन्दर नृत्य, गान और हावभावसे तो कामको बड़ी सहायता मिलती है ही, यह तो नित्य ही देखनेमें आता है, उसपर फिर देवाङ्गनाओंके रूप और गानका कहना ही क्या? इसीसे आगे इन्हें 'सहाय' और 'बल' कहते हैं।) (ग) *'असमसर कला प्रबीना'* कहकर जनाया कि इन्होंने नारदजीके समीप जाकर अपना सब कामकला-कौशल कर दिखाया, सब कलाएँ एक-एक करके उनके सामने कीं।

'असमसर-कला' इति।

प्रसिद्ध मीमांसक मण्डन मिश्रकी पत्नी परम विदुषी श्रीशारदाने कामशास्त्रसम्बन्धी प्रश्नोंसे ही श्रीशंकराचार्यजीको निरुत्तर कर दिया, तब श्रीशंकराचार्यजीने समय लेकर अमरुक राजाके मृत शरीरमें प्रविष्ट हो उनकी रानियोंसे काम-कलाओंका ज्ञान प्राप्त करके उत्तर दिया था। विदुषी भारतीके वे प्रश्न ये हैं—'**कलाः कियत्यो वद पुष्पधन्वनः किमात्मिकाः किञ्च पदं समाश्रिताः। पूर्वे च पक्षे कथमन्यथास्थितिः कथं युवत्यां कथमेव पूरुषे॥**' अतः ज्ञात हुआ कि स्त्री और पुरुषके लिये भिन्न-भिन्न रूपेण काम अपनी कलाओंका प्रयोग करता है। सम्भवतः कामने शिवजीके ऊपर पुरुषसम्बन्धी कलाओंका ही प्रयोग किया होगा और उनमें भी जिनका सम्बन्ध श्रवणेन्द्रियसे ही रहा होगा। और '***रंभादिक सुर नारि नबीना। सकल असमसर-कला प्रबीना॥***' अनेक सुर-नारियोंके साथ सम्पूर्ण कलाओंको प्रयोगरूपसे नारदको दिखलाया था। यहाँपर उनकी व्याख्या न करके केवल कुछ कलाओंका नाममात्र दे दिया जाता है।

बाभ्रव्य ऋषिका मत है कि '**आलिंगनचुम्बननखच्छेददशनच्छेदसंवेशनसीत्कृतपुरुषायितौपरिष्टानाम्, अष्टानामष्टधाविकल्पभेदादष्टावष्टकाःश्चतुःषष्ठिरिति बाभ्रवीयाः॥**' (कामसूत्र० २। ४। ४) आलिंगनादि आठों कलाओंमें प्रत्येकके आठ-आठ भेद होनेसे कुल चौंसठ कलाएँ हुईं। परन्तु वात्स्यायन ऋषिका कहना है कि चौंसठ उपभेदमें देशभेदसे विभिन्नता भी है। जैसे '**पांचालिकी च चतुःषष्ठिरपरा**' '**मागधीरपरा च**।' (वात्स्यायनसूत्र १। ३। १७) तथा उपर्युक्त आलिंगनादिके अतिरिक्त चार मुख्य भेद और हैं तथा सबके बराबर उपभेद नहीं होते, जैसे सप्तपर्ण वृक्षके प्रत्येक पल्लवोंमें सात-सात ही पत्ते नहीं होते न्यूनाधिक भी होते हैं और पञ्चवर्णी बलिके सभी कोष्ठक पाँच रंगवाले ही नहीं होते। न्यूनाधिक भी रंगोंका सम्मिश्रण होता है। यथा—'**विकल्पवर्गाणामष्टानां न्यूनाधिकत्वदर्शनात्—प्रहरणानविरुतपुरुषो-पसृतचित्ररतादीनामन्येषामपि वर्गाणामिह प्रवेशनात् प्रायोवादोऽयम्। यथा सप्तपर्णो वृक्षः पञ्चवर्गो बलिरिति वात्स्यायनः॥**' (वा० सू० २। ४। ५)

मुख्यतः कामकलाएँ आलिंगनादि आठ ही हैं, यही बाभ्रव्य और वात्स्यायनादिके मतका निष्कर्ष है। वैसे तो '***सकल कला करि कोटि बिधि*****·····**।' के अनुसार एक-एकके कोटियों (अनेकों) उपभेद हैं पर महर्षि वात्स्यायनके मतानुसार कुछ मोटे-मोटे उपभेद ये हैं—

१—आलिंगनके आठ भेद—स्पष्टकम् १, विद्धकम् २, उद्धृष्टकम् ३, पीड़ितकम् ४, इति—(वा० सू० २। ४। ६), लतावेष्टितकम् ५, वृक्षाधिरूढकम् ६, तिलतण्डुलकम् ७, क्षीरनीरकम् ८—इति च॥' (वा० सू० २। ४। १४)

२—चुम्बनके सोलह भेद—१ निमित्तक, २ स्फुरितक, ३ घट्टिक, ४ सम, ५तिर्यक्, ६ उद्भ्रान्त, ७ द्यूत, ८ अवपीड़ितक, ९ अञ्चित, १० मृदु, ११ उत्तर, १२ प्रतिरोध, १३ चलित, १४ रागसंदीपक, १५ प्रतिबोधित और १६ समौष्ट। (वा० सू० ३। ४। १—३२)

३—आठ प्रकारके नखच्छेद—आच्छुरितक, अर्धचन्द्र, मण्डल, रेखा, व्याघ्रनख, मयूरपदक, शशप्लुतक और उत्पलपत्रक (३। ६। १—३२)

४—आठ प्रकारके दशनच्छेद—गूढ़क, उच्छूनक, बिन्दु, बिन्दुमाला, प्रवासमणि, मणिमाला, खण्डाभ्रक और वाराहचर्वित (३। ५। १—१९)

५—संवेशनके ग्यारह भेद—उत्फुल्लक, जिम्भृत, उज्जिम्भृत, इन्द्राणिक, सपुटक, पीड़ितक, उत्पीड़ितक, प्रपीड़ितक, वेष्टितक, वाड़विक और भृगनक। (३। ६। १—१९)

६—सीत्कृतके मन्द, चण्ड, उरुवेग और कलकूजित—ये चार भेद हैं। (३। ६। २०—२७)

७—पुरुषायितके श्रमित और प्रतियोगित भेद हैं। (३। ८। १, २)

८—औपरिष्टकके निन्द, कष्टायित और विनिन्द—ये तीन भेद हैं। (३। ९। १—६)

९—प्रहरणनके सात भेद हैं—तिर्यक्, पेष्टिक्, चण्डित, स्वल्पित, अपहस्तक, प्रसृतक और मौष्ठक (३। ७। १—४)

१०—विरुतके आठ भेद हैं—हिंकार, स्तनित, कूजित, रुदित, सीत्कृत, दूत्कृत, फूत्कृत और प्रविरुत। (३। ७। ५—१७)

११—पुरुषोपसृप्त (पुरुषोपसृत?) के मन्द, चाटु और अधिकृत तीन भेद हैं।

१२—चित्ररतके चालीस भेद हैं—वेणुदारित १, शूलाचितक २, कार्कटक ३,परावृतक ४, चित्रक ५, अवालम्बितक ६, धेनुक ७, पद्मक ८, शौन ९, ऐणेय १०, छागल ११, खराक्रान्त १२, मार्जारक १३, ललितक १४, व्याघ्रास्कन्दन १५, गजोपमर्दित १६, वाराहघृष्टक १७, तुरगाधिरूढ़क १८, संघाटक १९, गोयूथिक २०, प्रेंखा २१, सरित २२, उद्भुंग्रक २३, उरुस्फुटनक २४, फणिपाशक २५, स्थितक २६, हिण्डोलक २७, कौर्म २८, ऊर्ध्वगतोरुयुग २९, पारिवर्तित ३०, समुद्र ३१, परिवर्तनक ३२, पत्रयुग्मक ३३, वैपरीतक ३४, हुलक ३५, चटकविलसित ३६, भ्रमरक ३७, प्रेंखोलित ३८, अवमर्दनक ३९ और उपसृप ४०।

अश्लीलता एवं अनुभवहीनताके कारण उपर्युक्त कला-भेदोंका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। वात्स्यायन महर्षिका तो कहना है कि—'**न शास्त्रमस्तीत्यनेन प्रयोगो हि समीक्ष्यते। शास्त्रार्थान् व्यापिनि विद्यात् प्रयोगांस्त्वेकदेशिकान्॥**' (७। ६। १५) समस्त विषय लिखना शास्त्रका महत्त्व है, परंतु उसका करनेवाला प्रत्येक नहीं होना चाहिये। वे० भू० जीसे खोज कराकर लिख दिया है।

करहिं गान बहु तान तरंगा। बहु बिधि क्रीड़हिं पानि पतंगा॥५॥

शब्दार्थ—**तान तरंग**=अलापचारी; लयकी लहर। **तान**=गानेका एक अंग। **अनुलोम**-बिलोम गतिसे गमन। अनेक विभाग करके सुरका खींचना; आलाप। संगीत दामोदरके मतसे स्वरोंसे उत्पन्न तान उनचास (४९) हैं। इन ४९ से आठ हजार तीन सौ कूट तान निकलते हैं।' (श० सा०)। **तरंग**=स्वरोंका चढ़ाव-उतार—'**बहु** *भाँति तान तरंग सुनि गंधर्ब किन्नर लाजहीं।', 'करहिं'....'तान तरंगा'* अर्थात् राग आलापको रुक-रुककर बढ़ाती हैं जिससे उसमें लहर उठे जिसे उपज कहते हैं। **क्रीड़ा**=केलि, आमोद-प्रमोद, कल्लोल, खेल-कूद। **पतंग**=गेंद, कंदुक। यथा—'**योऽसौ त्वया करसरोजहतः पतङ्गो, दिक्षु भ्रमन्भ्रमत एजयतेऽक्षिणी मे।**' (भा० ५। २। १४) अर्थात् तुम जो अपने करकमलोंसे थपकी मारकर इस कंदुकको उछाल रही हो सो यह दिशा-विदिशाओंमें जाता हुआ मेरे नेत्रोंको चञ्चल कर रहा है। विशेष भावार्थ नोटमें देखिये।

अर्थ—(वे नवयौवना अप्सराएँ बहुत आलापकारीके साथ) गान कर रही हैं, बहुत तानके तरंग (उपज मूर्छना आदि) लेती हैं। हाथोंमें गेंद लिये हुए बहुत प्रकारसे उससे क्रीड़ा कर रही हैं (उसे थपकी देती और उछालती हैं)॥५॥

* बहु बिधि क्रीड़हिं पानि पतंगा *

'**पतंग**'—इस शब्दके अनेक अर्थ हैं। किसीने इसका अर्थ 'गुड्डी', 'कनकौआ', किसीने 'चिनगारी', किसीने 'अरुण' और किसीने 'गेंद' किया है और उसी अर्थके योगसे *'बहु बिधि क्रीड़हिं पानि पतंगा।'* के भाव यों कहे हैं—(१) हाव-भावसहित मदनानन्द-वर्द्धक क्रीड़ाएँ करती हैं। भाव बतानेमें हाथ ऐसे चञ्चल चलते हैं जैसे पवनके वश पतंग आकाशमें उड़ता है। हाथोंको पतंगकी तरह अनेक प्रकारसे (हाव-भाव दर्शानेके निमित्त) चलाती थीं—(रा० प्र०)। विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि 'तानोंकी उपजके साथ मनमें जो तरंगें उठती थीं उसीके अनुसार हाव-भावको हाथोंके द्वारा दर्शाती थीं; [जैसा सत्योपाख्यानमें कहा है—'**यतो हस्तस्ततो दृष्टिर्यतो दृष्टिस्ततो मनः। यतो मनस्ततो भावो यतो भावस्ततो रसः॥ अंगेनालम्ब्य यद् गीतं हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत्। चक्षुर्भ्यां भावमित्याहुः पादाभ्यां तालनिर्णयः॥**' (१-२) अर्थात् (नाचने-गानेके समय जो शरीरकी व्यवस्था हो जाती है सो यों है) जिस ओर हाथ रहे उसी ओर दृष्टि रहती है और जहाँपर दृष्टि रहे वहींपर मन लगा रहे। जहाँ मन हो वहीं भाव दर्शाया जावे और जहाँ भाव दर्शाया गया हो वहीं रस

उत्पन्न होता है॥ जिस गीतको मुखसे आलापे उसका अर्थ हाथोंके इशारेसे जतावे, नेत्रोंसे भाव प्रकट करे और पावोंसे ताल सूचित करता जावे॥' (१-२) (बैजनाथजी)] वे *'पतंग'* का अर्थ 'गुड्डी' करते हैं।

२—आलापचारीके साथ भाव दर्शानेमें इतनी फुर्तीसे हाथ चलते हैं, जैसे अग्निसे चिनगारी शीघ्र निकलती है। (रा० प्र०) वा, जैसे हाथमें चिनगारी होनेसे हाथ शीघ्र चलते हैं, बदलते रहते हैं वैसे ये पैंतरे बदलती हैं।

३—गुलाबी, जैसे अरुणोदयका रंग वैसे, हाथोंसे क्रीड़ा करती हैं—(रा० प० प०, बाबू श्यामसुन्दरदास)।

४—हाथोंसे थपकी देकर गेंद उछालती हैं—(पंजाबीजी, श्रीगुरुसहायलाल, प्रोफे० दीनजी, शुकदेवलालजी)।

५—पतंगका अर्थ सूर्य करके यह अर्थ करते हैं कि 'सूर्यकी ओर हाथ उठाकर क्रीड़ा करती हैं। ऐसा करके अपने अङ्गोंको दिखाती हैं जिससे मनमें विक्षेप हो।'

☞ श्रीमद्भागवतमें राजा अग्नीध्रजीके पास पूर्वचित्ति अप्सराका जाकर क्रीड़ा करना जहाँ (स्कन्ध ५ अ० २ में) वर्णित है वहाँ अप्सराकी एक क्रीड़ा यह भी वर्णन की गयी है। राजाने अप्सरासे कहा कि 'तुम अपने करकंजसे गेंदको थपकी दे-देकर उछालती हो, जहाँ-जहाँ वह जाता है वहीं-वहीं मेरी दृष्टि जाती है, जिससे मेरे नेत्र चञ्चल हो रहे हैं।' यह भी कामकी एक कला है। पुनः, (स्कन्ध ३ अ० २० श्लोक ३६) में भी यह शब्द ऐसे ही प्रसंगपर गेंदके अर्थमें आया है, यथा—'**नैकत्र ते जयति शालिनि पादपद्मं घ्नन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतङ्गम्। मध्यं विषीदति बृहत्स्तनभारभीतं शान्तेव दृष्टिरमला सुशिखासमूहः॥**' अर्थात् हे प्रशंसा करनेयोग्य रूपवाली! तुम्हारे चरण-कमल एक जगह नहीं रहते, क्योंकि तुम गेंद उछालती हो और जब वह पृथ्वीपर गिरता है तब फिर दौड़कर थपकी मारती हो……।

नवयौवना सुन्दर स्त्रियोंका गेंद-क्रीड़ा करना बहुत ठौर पाया जाता है, यथा—(भागवत स्कन्ध ३ अ० २२ श्लो० १७) '**यां हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रिशोभां विक्रीडतीं कन्दुकविह्वलाक्षीम्। विश्वावसुर्न्यपतत्स्वाद्विमानाद्विलोक्य संमोहविमूढचेताः॥**' अर्थात् हे महाराज! आपकी यह सुन्दरी कन्या एक बार महलके ऊपर कंदुक-क्रीड़ा कर रही थी, विश्वावसु इसकी अपूर्व शोभा देख मोहित हुआ…।

अस्तु, यहाँ यही अर्थ और यही भावार्थ जो उपर्युक्त श्लोकोंमें पाया जाता है, पूर्ण संगत और ठीक प्रतीत होता है।

श्रीमद्भागवतके उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि *'पाणि पतङ्ग क्रीड़ा'* से भी देवता एवं ऋषियोंके मन मोहित हो गये। और यहाँ श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ अप्सराएँ-देवाङ्गनाएँ, तान-तरङ्गके साथ गान भी कर रही हैं और गेंदकी क्रीड़ा भी कर रही हैं। यह सब मुनिकी समाधि छुड़ानेके लिये ही किया गया। यथा—*'सुर सुंदरी करहिं कल गाना। सुनत श्रवन छूटहिं मुनि ध्याना॥'* (१। ६१) *'बहु भाँति तान तरंग सुनि गन्धर्ब किन्नर लाजहीं'* (गी०। ७। १९)

देखि सहाय मदन हरषाना। कीन्हेसि पुनि प्रपंच बिधि नाना॥ ६॥
काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी। निज भय डरेउ मनोभव पापी॥ ७॥
सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥ ८॥

शब्दार्थ—**प्रपञ्च**=माया, रचना। जैसे कि भीनी-भीनी बूँदोंकी जलवर्षा, पुष्पबाणोंकी वर्षा इत्यादि कामवर्द्धक क्रियाएँ, छल, आडम्बर। **कामकला**=मोहन, आकर्षण, उच्चाटन और वशीकरण आदिके उपाय। ऊपर चौ० ४ में देखिये। **ब्यापना**=असर करना, लगना, प्रभाव डालना, आकर्षित करना। **मनोभव**=कामदेव। **सीम** (सीमा)=हद, सरहद, मर्यादा। यथा—*'हैं काके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम चरै'* (वि० १३७) **चाँपना**=दबा लेना, यथा—*'तिनकी न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जे बसहिं रघुबीर बाँह॥'* (गी० २। ४९। ६) **बड़**=सबल, सबसे बड़ा, समर्थ, श्रेष्ठ।

अर्थ—कामदेव सहायकको देखकर हर्षित हुआ फिर उसने अनेक प्रकारके प्रपञ्च रचे॥ ६॥ कामके कोई भी करतब मुनिको किंचित् भी न व्यापे। पापी कामदेव अपने ही डरसे डर गया॥ ७॥ श्रीलक्ष्मीपति भगवान् जिसके बड़े रक्षक हैं, उसकी सीमाको कौन दबा सकता है? (कोई भी तो नहीं)॥८॥

टिप्पणी—१ '*देखि सहाय*……' इति। (क) इन्द्रकी आज्ञा थी कि '*सहित सहाय जाहु मम हेतू*'; अब यहाँ आकर बताते हैं कि वे '*सहाय*' कौन हैं। पाँच अर्धालियोंमें जिनका वर्णन किया गया यही वे सहायक हैं जिन्हें वह साथ लाया (इनको सहायक इस विचारसे कहा कि वे सब कामोद्दीपन करते हैं)। ऊपर चौ० १-४ देखिये। कामकी सेनाका वर्णन अरण्यकाण्डमें '*सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल।* ३७।' से लेकर '*एहि कें एक परम बल नारी। तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी॥*' (३८। १२) तक है। (ख) '*हरषाना*' हर्षित हुआ कि अब कार्य सफल हुआ, देर नहीं, सब ठाट-बाट ठीक बन गया, अब नारद बच नहीं सकते, शीघ्र ही हमारे जालमें फँसते हैं, कामासक्त होने ही चाहते हैं। अथवा सहायकोंकी सुन्दरता देखकर प्रसन्न हुआ। (ग) यहाँतक सहायकोंकी कलाका वर्णन हुआ। आगे अब उसने स्वयं अपना अनेक प्रकारका प्रपञ्च रचा। जैसे कि सुमनशर अर्थात् कामबाणका चलाना, इत्यादि। यथा—'*सकल कला करि कोटि बिधि हारेउ सेन समेत। चली न अचल समाधि सिव कोपेउ हृदय निकेत॥*' (१। ८६) '*देखि रसाल बिटप बर साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदनु मन माखा॥ सुमन चाप निज सर संधाने। अति रिस ताकि श्रवन लगि ताने॥ छाँड़े बिषम बिसिख उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे॥*' नाना विधिके प्रपञ्च शृङ्गाररसके ग्रन्थोंमें लिखे हैं। (घ) '*कीन्हेसि पुनि*' का भाव कि एक बार प्रपञ्च कर चुका है, यथा—'*तेहि आश्रमहि मदन जब गएऊ। निज माया बसंत निरमएऊ॥*' अब पुनः करने लगा। (अथवा, प्रथम सहायक सेनाको देखकर हर्ष हुआ पर यह देखकर कि सहायकोंकी एक भी कलाने अभीतक कुछ भी असर नहीं किया, उसने फिर स्वयं प्रपञ्च रचे। वि० त्रि० का मत है कि वायुके झोकेसे अप्सराओंके अञ्चल आदिका हट जाना इत्यादि प्रकारके प्रपञ्च किये।)

टिप्पणी—२ '*काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी*……' इति। (क) '*सकल असमसर कला प्रबीना*' रम्भादि अप्सराओंने अपनी समस्त कलाएँ कीं और फिर कामदेवने स्वयं भी अनेक प्रपञ्च रचे, फिर भी '*कामकला*' न व्यापी, यह कहकर '*प्रपंच*' का अर्थ यहाँ कामकला स्पष्ट कर दिया। (ख) '*निज भय डरेउ*' का भाव कि नारदजीकी ओरसे भय नहीं है। (भाव यह कि मुनिने तो किंचित् भी प्रतिकारात्मक क्रूरदृष्टि उसकी ओर नहीं की, परंतु इसने उनसे द्रोह किया है, इसीसे वह स्वयं भयभीत हो रहा है। यथा—'*परद्रोही की होहिं निसंका।*' (७। ११२। २) इसीसे '*डरेउ*' के साथ '*पापी*' और '*निज भय*' शब्द दिये। पापी सदा अपने पापके कारण डरता ही रहता है। रावण-ऐसा महाप्रतापी भी श्रीसीताहरण करके '*चला उताइल त्रास न थोरी।*' (३। २९) तब कामदेवका डरना तो स्वाभाविक ही है कि मैंने उनके देखते-देखते अपराध किया है, कहीं शाप न दे दें; यद्यपि उसका भय निर्मूल साबित हुआ)। (ग) '*मनोभव*' का भाव कि काम मनसे उत्पन्न होता है और नारदजीका मन सहज ही विमल है, इसीसे कामकी कलाएँ उनको न व्यापीं। (घ) '*पापी*' इति। जब कामने शिवजीपर चढ़ाई की और सब लोकोंको व्याकुल कर दिया तब उसको 'पापी' न कहा था और यहाँ 'पापी' विशेषण देते हैं। कारण कि इन्द्रने दुष्टभावसे कामको देवर्षि नारदपर चढ़ाई करनेको भेजा था, यथा—'*सुनासीर मन महुँ अति त्रासा। चहत देवरिषि मम पुर बासा॥*' इसीसे वक्ताओंने इन्द्रको 'शठ', 'श्वान', 'जड़', 'काक' और निर्लज्ज आदि कहकर उसकी निन्दा की और उसके सहायक कामदेवकी भी निन्दा की। दुष्टके संगसे तथा दुष्ट कर्म करनेसे निन्दा होती है। जब श्रीशिवजीपर इसने चढ़ाई की थी तब उसमें सबका उपकार था और उसमें ब्रह्मा आदि सभीका सम्मत था; इसीसे तब निन्दा न की थी। पुनः, इतना ही नहीं, वरंच भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे भी स्वयं शङ्करजीने हामी भर ली थी कि पार्वतीजीको जाकर व्याह लावेंगे

फिर भी अखण्ड समाधि लगा बैठे थे। यथा—*'जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि माँगे देहु।'* (७६) *कह शिव जदपि उचित अस नाहीं। नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं॥ सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परमु धरमु यह नाथ हमारा॥······अग्या सिर पर नाथ तुम्हारी॥' 'मनु थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना॥'* (१। ८२) *'सिव समाधि बैठे सबु त्यागी।'* (८३। ३) अतएव वहाँ कामदेवका कार्य भगवत्-इच्छाके अनुकूल था और *'राम रजाइ सीस सब ही के'* है; इसीसे ब्रह्मादि देवताओंने लोकहितार्थ वहाँ कामको भेजा था। वहाँपर परोपकार था, यह बात उसने स्वयं स्वीकार की है। यथा—*'परहित लागि तजै जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥'* (८४। २) ऐसे उच्च एवं शुद्ध विचारसे वह शंकरजीकी समाधि छुड़ाने गया था। वहाँ प्रशंसाका काम था और यहाँ उसने किंचित् भी न सोचा-विचारा। इन्द्रकी बातोंमें आकर घमण्डमें हर्षसे फूला न समाया, भगवद्भक्तके भजनमें बाधा डालनेको तत्पर हो गया। अतएव यहाँ उसे 'पापी' कहा और वहाँ न कहा। पुनः, वहाँ तो उसने शिवजीको भी उनके परम धर्म *'अज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी'* के पालनमें सहायता की। अतः 'पापी' कैसे कह सकते थे?

टिप्पणी—३ *'सीम कि चाँपि सकै कोउ······'* इति। (क) मुनिके मनमें कामका प्रपञ्च न व्यापा, इससे पाया गया कि उनके मनकी वृत्ति 'सीमा' है। [यहाँ मनको सीमाकी उपमा दी। 'सीमा' का अर्थ है मर्यादा; हद, मेड़। मनहीमें कामकी जागृति होती है, वहींसे कामकी प्रवृत्ति होती है, वहीं काम अपना बल प्रकट करता है। अतएव मनको वशमें कर लेना ही यहाँ परायी सीमाका दबा लेना कहा गया। जैसे कोई राजा, जमींदार या किसान दूसरेकी जमीन दाब लेते हैं वैसे ही काम दूसरेके मनपर पलमात्रमें दखल—अधिकार जमा लेता है। यथा—*'मुनिहि मोह मन हाथ पराएँ।'* (१। १३४) *'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञान धाम मन करहिं निमिष महुँ क्षोभ।'* (३। ३८) विनयके पद १३७ के *'जौं पै कृपा रघुपति कृपाल की बैर और के कहाँ सरै। होइ न बाँको बार भगत को जौं कोउ कोटि उपाय करै॥ ····हैं काकें द्वै सीस ईस के जो हठि जनकी सीम चरै। तुलसिदास रघुबीर बाहु बल सदा अभय काहू न डरै॥'* इस उद्धरणसे इस चौपाईका भाव मिलता-जुलता है। दोनोंहीमें 'सीमा' का दबाना कहा गया है। *'सीम कि चाँपि सकै'* में काकोक्तिद्वारा उलटा अर्थ होना कि 'कोई नहीं दबा सकता' 'वक्रोक्ति अलङ्कार' है।] (ख) *'बड़ रखवार रमापति जासू'* इति। ऊपर कह आये हैं कि *'निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा। भएउ रमापति पद अनुरागा॥'* (१२५। ३) अर्थात् नारदजीके मनमें श्रीरमापतिपदमें अनुराग उत्पन्न होना कहा है। इसीसे यहाँ रक्षा करनेमें भी *'रमापति'* को 'रखवार' कहा। (ग) रमापतिको रक्षक कहनेका भाव यह है कि जैसे लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु रमाजीकी रखवाली (रक्षा) करते हैं, वैसे ही वे दासोंकी भी रक्षा करते हैं। ('कामने भगवान् शङ्करकी समाधि तो छुड़ा दी और नारदजीकी समाधि न छुड़ा सका, यह कैसे माना जा सकता है?' इस सम्भावित शङ्काका समाधान यह अर्धाली करती है कि यहाँ नारदजीके साथ उनके रक्षक रमापति मौजूद हैं और वहाँ तो शिवजी भगवान्‌की आज्ञाका उल्लंघन ही कर बैठे थे, इससे वहाँ भगवान् उनकी रक्षा क्यों करने लगे? समाधि तुड़वाना और विवाह कराना तो भगवान्‌को स्वयं ही मंजूर था)।

नोट—शिवपुराण दूसरी रुद्रसंहिता अ० २में मिलानके श्लोक ये हैं—**'न बभूव मुनेश्चेतो विकृतं मुनिसत्तमाः। भ्रष्टो बभूव तद्गर्वो····। ईश्वरानुग्रहेणात्र न प्रभावः स्मरस्य हि।'** (१६-१७)

दो०—सहित सहाय सभीत अति मानि हारि मन मैन*।
गहेसि जाइ मुनि चरन तब कहि सुठि आरत बैन†॥ १२६॥

शब्दार्थ—हारि (सं०)=हार, पराजय, पराभव, शिकस्त। शत्रुके सम्मुख असफलता होना *'हारि'* है। **मैन** (मयन)=मदन, कामदेव।

* मयन। † बयन—१६६१। तब कहि सुठि आरत बयन—१६६१। कहि सुठि आरत मृदु बैन—१७०४, १७२१, १७६७, छ०।

अर्थ—तब सहायकोंसहित मनमें हार मान अत्यन्त भयभीत हो कामदेवने जाकर अत्यन्त आर्त्त वचन कहते हुए मुनिके चरण पकड़ लिये॥ १२६॥

टिप्पणी—१ पहले कामदेवका भयभीत होना कहा—*'निज भय डरेउ मनोभव पापी।'* अब सहायकोंका भी सभीत होना कहते हैं। उसने सहायकोंसहित मुनिका अपराध किया है, इसीसे *'सहायसहित'* भयभीत है! (कामदेवको आदि और अन्त दोनोंमें कहा, क्योंकि प्रारम्भमें इसीने *'निज माया बसंत निरमएऊ'* और अन्तमें इसीने *'कीन्हेसि पुनि प्रपंच बिधि नाना।'*)

टिप्पणी—२ *'मानि हारि मन मैन'* अर्थात् मनसे हार गया, *'कहि सुठि आरत बैन'* अर्थात् अत्यन्त आर्त्त वचन बोला, जैसे कि *'त्राहि त्राहि दयाल मुनि नारद'* इत्यादि और *'गहेसि जाइ मुनि चरन'* अर्थात् हाथोंसे चरण पकड़े। इस प्रकार जनाया कि कामदेव मन, कर्म, वचन तीनोंसे नम्र हो गया है तभी तो वह तीनोंसे मुनिकी शरण हुआ।

टिप्पणी—३ (क) *'मानि हारि'* हार यहाँतक मानी कि इन्द्रकी सभामें जाकर उसने अपनी हार कही। यथा—*'मुनि सुसीलता आपनि करनी। सुरपति सभा जाइ सब बरनी॥'* (ख) *'गहेसि चरन'*। सहायकोंसहित चरण पकड़े। चरण पकड़ना, आर्त्त बचन बोलना, यह क्षमा-प्रार्थनाकी मुद्रा है। सबका अपराध क्षमा कराना चाहता है, इससे सबको साथ लेकर गया।

भएउ न नारद मन कछु रोषा। कहि प्रिय बचन काम परितोषा॥ १॥
नाइ चरन सिरु आयसु पाई। गएउ मदन तब सहित सहाई॥ २॥
मुनि सुसीलता आपनि करनी। सुरपति सभाँ जाइ सब बरनी॥ ३॥
सुनि सबके मन अचरजु आवा। मुनिहि प्रसंसि हरिहि सिरु नावा॥ ४॥

शब्दार्थ—**परितोषा**=समाधान सन्तुष्ट प्रसन्न वा खुश किया। **सुसीलता**=सुन्दर स्वभाव; कोई कैसा ही अपराध करे उसपर रुष्ट न हो उसको क्षमा ही करना 'सुशीलता' है, यथा—*'प्रभु तरुतर कपि डारपर ते किय आपु समान। तुलसी कहूँ न रामसे साहब सील निधान॥'* विशेष ७६ (५-६), १०५ (१) में देखिये।

अर्थ—नारदजीके मनमें कुछ भी क्रोध न हुआ। उन्होंने प्रिय वचन कहकर कामदेवको सन्तुष्ट किया॥ १॥ तब मुनिके चरणोंमें माथा नवा, उनकी आज्ञा पा, कामदेव सहायकोंसहित चला गया॥ २॥ देवराज इन्द्रकी सभामें जाकर उसने मुनिकी सुशीलता और अपनी करतूत सब वर्णन की॥ ३॥ यह सुनकर सबके मनमें आश्चर्य हुआ, (उन्होंने) मुनिकी बड़ाई करके भगवान्‌को मस्तक नवाया॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'भएउ न नारद मन कछु रोषा।'''* इति। (क) कामको जीते हैं इसीसे मनमें कुछ रोष न हुआ। क्रोधकी उत्पत्ति कामसे है, यथा—**'संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते'** (गीता)। जहाँ काम ही नहीं है वहाँ क्रोध कैसे हो सके? इसीसे दोनों जगह *'कछु'* शब्द दिया। *'काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी'* पूर्व कहा, अतः यहाँ भी *'भएउ न नारद मन कछु रोषा'* कहा। काम 'कुछ' न व्यापा, अतः रोष भी 'कुछ' न हुआ। (ख) पुनः भाव कि कामकी उपस्थितिमें, उसकी प्राप्तिमें (अर्थात् जब कामासक्त हो जानेका पूरा सामान प्राप्त था तब भी) काम उत्पन्न न हुआ और क्रोधकी प्राप्तिमें (अर्थात् अपराध करनेपर क्रोध हो जाता है उसके होते हुए) भी क्रोध न हुआ, इसका कारण ऊपर कह आये *'सीम कि चाँपि सकै'''।'* अर्थात् भगवान्‌के रक्षक होनेसे ही न काम हुआ न क्रोध। (ग) *'कहि प्रिय बचन'''।'* भाव कि प्रियवचन कहे बिना कामदेवको सन्तोष न होता; इसीसे प्रिय वचन कहकर उसे अभय किया। *'परितोष'* इस तरह कि तुम्हारा दोष क्या, तुम तो सुरपतिकी आज्ञासे आये, स्वामीकी आज्ञा पालन करना धर्म है। (ब्रह्माने इसीलिये तुम्हारी सृष्टि की है, सनातन सृष्टि तुम्हारे आधारसे चल रही है, तुमने अपना कर्तव्य पालन किया। मैं अप्रसन्न नहीं हूँ। इस तरह उसका सन्तोष किया। वि० त्रि०) **प्रिय**=जो कामदेवको अच्छे लगे एवं कोमल मीठे। (घ) ☞ जैसे काम मन-वचन-कर्मसे

नम्र हुआ, वैसे ही नारदजी मन-कर्म-वचनसे शीतल रहे। **'भएउ न नारद मन कछु रोषा'** यह मन है, **'कहि प्रिय बचन'** यह वचन है और **'काम परितोषा'** यह कर्म है। (दिलासा देनेमें सिर वा पीठपर हाथ प्रायः रखते हैं, यह कर्म है।)

टिप्पणी—२ (क) पूर्व कह आये हैं कि **'सहज बिमल मन लागि समाधी'** और यहाँ लिखते हैं कि **'कामकला कछु मुनिहि न ब्यापी।'** जब कामकला कुछ व्यापी नहीं तब समाधि कैसे छूटी? यदि समाधिका उपराम नहीं हुआ तो परितोष कैसे किया? समाधि छूटनेपर ही तो कामको समझाया? इन सम्भावित शङ्काओंका समाधान यह है कि समाधि दो प्रकारकी है, एक सम्प्रज्ञात दूसरी असम्प्रज्ञात। यहाँ सम्प्रज्ञात समाधि है (जिसमें चैतन्य रहकर सब कौतुक देखते हुए भी मन भगवान्‌के अनुरागमें परिपूर्ण रहता है, ध्येयहीका रूप प्रत्यक्ष रहता है, यथा—**'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥'** (अ० २७५)* जब कामदेव चरणोंपर आकर गिरा तब परितोष करने लगे। (ख) भगवान्‌को अभिमान नहीं भाता। देखिये जब कामदेवको अभिमान हुआ कि नारद हमारे सामने क्या हैं तब भगवान्‌ने उसे हरा दिया और जब नारदको अभिमान हुआ तब नारदको हरा दिया।

टिप्पणी—३ (क) **'नाइ चरन सिरु आयसु पाई।'**—जब कामदेव आया था तब उसने मुनिको प्रणाम न किया था—**'तेहि आश्रमहि मदन जब गएऊ। निज माया बसंत निरमएऊ॥'** (यहाँ प्रणाम करना नहीं लिखा)। जब अपराध किया तब (एवं वह 'सब तरहसे समाधि छुड़ानेका प्रयत्न करके हार गया है, अतएव उनका प्रभाव समझकर भयके मारे, अपराध क्षमा कराने तथा उनके क्रोधसे) बचनेके लिये **'गहेसि जाइ मुनि चरन'** उनके चरण पकड़े। और, अब (जब पास जानेपर भी किंचित् क्रोध मुनिको न हुआ तब यह समझकर कि त्रैलोक्यमें इनके समान दूसरा नहीं है।) इनको भारी महात्मा जानकर (एवं अपनी कृतज्ञता जनानेके लिये) चलते समय चरणोंमें सिर नवाकर और आज्ञा पाकर चला। (नोट—☞यह शिष्टाचार है कि महात्माओं, गुरुजनोंके समीप जाने और वहाँसे विदा होनेपर उनको सादर प्रणाम किया जाता है।) भारी महात्मा समझा (यों भी कह सकते हैं कि कामदेवके हृदयमें मुनिके प्रिय वचनों इत्यादिका प्रभाव यहाँ दिखा रहे हैं। उनका सुशील स्वभाव इसके हृदयमें बिंध गया है) इसीसे मुनिका माहात्म्य (महत्त्व) आगे इन्द्रकी सभामें कहेगा। काम-क्रोध-लोभको जीतनेवाला ईश्वरके समान है, यथा—**'नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥ लोभ पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥'** (४। २१ सुग्रीवोक्ति) अतः इनको ईश्वर-समान समझा। (ख) **'गएउ मदन तब सहित सहाई'** इति। इन्द्रलोकसे 'सहायसहित' चला था, अतः **'सहित सहाई'** जाना भी कहा। ☞आदिसे अन्ततक सब कार्य 'सहायसहित' किये हैं। (१) इन्द्रलोकसे साथ चला—**'सहित सहाय जाहु मम हेतू। चलेउ हरषि हिय जलचरकेतू॥'**; (२) 'सहायसहित' विघ्न किया—**'देखि सहाय मदन हरषाना। कीन्हेसि पुनि प्रपंच बिधि नाना॥'** (३) 'सहायसहित' मुनिके चरण पकड़े—**'सहित सहाय सभीत अति मानि हारि मन मैन। गहेसि जाइ मुनि चरन कहि"""।'** और (४) सहायकोंसहित इन्द्रलोकको गया। इस कथनका तात्पर्य यह है कि कामदेवकी स्वामिभक्ति दिखाना है। स्वामिभक्त है इसीसे स्वामीकी आज्ञाका स्वरूप प्रत्येक जगह दिखायी दे रहा है। आज्ञा थी कि **'सहित सहाय जाहु'** अतः सब काम **'सहित सहाय'** किये। **'सहित सहाय जाहु'** उपक्रम है और **'गएउ""सहित सहाई'** उपसंहार है। [नोट—कामको तो शिवजी भस्म कर चुके थे, वह अनङ्ग है, तब यहाँ उसका जाना, चरण पकड़ना इत्यादि कैसे कहा गया? इसका उत्तर **'कल्पभेद हरि चरित सुहाये'** जान पड़ता है]

---

* असम्प्रज्ञात समाधि वह है जिसमें प्राणवायुको ब्रह्माण्डमें चढ़ा लेते हैं। इस समाधिमें शरीर जड़वत् हो जाता है। केवल बाहरी विषयोंकी कौन कहे, इसमें ज्ञाता-ज्ञेयकी भी भावना लुप्त हो जाती है। इसीको 'जड़ समाधि' भी कहते हैं। 'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।' (४। १०) में जो कहा है यह भी इसका उदाहरण है।

टिप्पणी—४ *'मुनि सुसीलता आपनि करनी।'''* इति। (क) *'कहि प्रिय बचन काम परितोषा'* यह सुशीलता कही। अपराध करनेपर भी क्रोध न करना 'शील' है और उसपर भी प्रसन्न होकर प्रिय वचन कहकर अपराधीका परितोष करना 'सुशीलता' है। (ख) (वसन्तका निर्माण करना तथा) *'कीन्हेसि पुनि प्रपंच बिधि नाना'* इत्यादि 'अपनी करनी' कही। (ग) *'सुरपति सभा जाइ सब बरनी'* अर्थात् सभाके बीचमें जहाँ सब देवता बैठे थे वहाँ जाकर सबके सामने कहा। *'सब बरनी'* अर्थात् अपनी हार, चरणोंपर गिरना इत्यादि भी सब कहा, किंचित् संकोच कहनेमें न किया। निस्संकोच सब कह दिया क्योंकि देवता यथार्थ भाषण करते हैं (सत्यभाषी होते हैं, अतएव सब सत्य-सत्य कह दिया)। (घ) अपनी करनी तो प्रथम है तब मुनिकी सुशीलता पर यहाँ कही पहले मुनिकी सुशीलता तब अपनी करनी? कारण कि कामदेव मुनिकी सुशीलतासे सन्तुष्ट हुआ है। (नोट—कामदेवके हृदयपर सुशीलस्वभावका बहुत गहरा प्रभाव पड़ा, इसीसे आते ही उसने प्रथम सुशीलता ही कही। प्रभावसे ऐसा विस्मित हो गया है कि अपनी न्यूनता भी कह डाली, उसे भी न छिपा सका।)

टिप्पणी—५ *'सुनि सबके मन अचरजु आवा'''* इति। (क) काम-क्रोधको जीतना आश्चर्य है, इसीसे *'अचरज आवा'* कि जो *'काम कुसुम धनु सायक लीन्हें। सकल भुवन अपने बस कीन्हें॥'* सो भी मुनिका कुछ न कर सका। (ख) *'मुनिहि प्रसंसि।'* प्रशंसा कि तीनों लोकोंमें जो कोई नहीं कर सका, वह नारदने किया अर्थात् इन्होंने त्रैलोक्यको जीत लिया, यथा—'**कान्ताकटाक्षविशिखा न खिदन्ति यस्य चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः। कर्षन्ति भूरि विषयाश्च न लोकपाशैर्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः॥**' इति भर्तृहरिनीतिशतके। (१०८) (अर्थात् वह धीर पुरुष तीनों लोकोंको जीतता है जिसके हृदयको स्त्रियोंके कटाक्षरूपी बाण नहीं छेदते, जिसके चित्तको कोपरूपी अग्निकी आँच नहीं जलाती और न नाना प्रकारके विषय ही लोभके फन्देमें फँसाकर खींचते हैं।) क्यों न हो, ये भगवान्‌के बड़े ही प्रिय भक्त हैं इत्यादि।—[रुद्रसंहिता २। २ में केवल इन्द्रका विस्मित होना और प्रशंसा करना कहा है। यथा—'**विस्मितोऽभूत्सुराधीशः प्रशशंसाथ नारदम्।**' (२४)] (ग) *'हरिहि सिरु नावा'* प्रणाम करनेमें भाव कि यह सब आपकी कृपासे हुआ—*'यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥'* धन्य हैं भक्तवत्सल भगवान्! और धन्य हैं उनके ऐसे प्रिय भक्त!

नारदमुनि और शिवजी दोनोंके प्रसङ्गोंका मिलान।

श्रीशिवजी	श्रीनारद मुनि
'सुरन्ह कही निज बिपति सब'।	*१-सुनासीर मन महँ अति त्रासा।*
'पठवहु काम जाइ सिव पाहीं'।	*२-सहित सहाय जाहु मम हेतू।*
'अस कहि चलेउ सबहिं सिर नाई'।	*३-चलेउ हरषि हिय जलचरकेतू।*
'अस्तुति सुरन्ह कीन्ह अति हेतू'।	*४-कामहि बोलि कीन्ह सनमाना।*
प्रगटेसि तुरत रुचिर रितुराजा।	*५-निज माया बसंत निरमयऊ।*
कुसुमित नव तरुराजि बिराजा।	*६-कुसुमित बिबिध बिटप बहुरंगा।*
सीतल सुगंध सुमंद मारुत।	*७-चली सुहावनि त्रिबिध बयारी।*
मदन अनल सखा सही।	*८-काम कृसानु बढ़ावनिहारी।*
देखि रसाल बिटप बर साखा।	*९-देखि सहाय मदन हरषाना।*
रुद्रहिं देखि मदन भय माना।	*१०-सहित सहाय सभीत अति मानि हारि मन मैन।*
सकल कला करि कोटि बिधि हारेउ सेन समेत।	*११-काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी।*

तब नारद गवने सिव पाहीं। जिता काम अहमिति मन माहीं॥५॥
मार चरित संकरहि सुनाए। अति प्रिय जानि महेस सिखाए॥६॥

शब्दार्थ—**गवने**=गये। **अहमिति**=अहं इति। 'मैं' (अर्थात् मैंने कामको जीत लिया, मेरे समान दूसरा नहीं, इत्यादि) ऐसा (अभिमान, अहङ्कार)।=अहङ्कार।

अर्थ—(जब कामदेव सहायकोंसहित चला गया) तब नारदजी शिवजीके पास गये। कामको जीता है 'मैं' ने ऐसा (अहङ्कार) उनके मनमें है॥ ५॥ उन्होंने श्रीशङ्करजीको 'मार'-चरित सुनाये। अपने परम प्रिय जानकर महादेवजीने उन्हें शिक्षा दी॥ ६॥

टिप्पणी—१ ***'तब नारद गवने सिव पाहीं।'''''*** इति। (क) कामदेवने इन्द्रकी सभामें कहा ही है। इन्द्रादि देवता सब नारदकी प्रशंसा कर रहे हैं। अतएव देवताओंके यहाँ विदित हो चुका, वहाँ जाकर कहनेका कुछ प्रयोजन नहीं रह गया। ब्रह्मा-विष्णु-महेशको विदित नहीं है, उनसे प्रकट करना चाहते हैं। प्रथम शिवजीके पास गये; क्योंकि शिव 'अहङ्कार'का स्वरूप वा अहङ्कार ही हैं—***'अहंकार सिव'*** (लं०); और नारदको अहंकार है। अतः अहंकार पहले इनको अपने स्वरूपके पास ले गया। [अहंकार नारद-जैसे देवर्षिको शिवजीके पास इसलिये लिये जा रहा है कि मानो शिवजीको एक-दूसरे कामारि प्रतिद्वन्द्वीका दर्शन करा दे। (लमगोड़ाजी)] (ख) ***'जिता काम अहमिति मन माहीं'*** अर्थात् कामको जीतनेका अहङ्कार है; इसीसे कामको जीतनेका समाचार कहने गये। ☞१ **अहङ्कार है। इसका प्रमाण प्रत्यक्ष है** कि कहाँ तो रमापति पदानुरागमें मग्न बैठे थे और कहाँ अब सहसा उठकर चल दिये। बैठे न रहा गया तो औरोंको जनाने चले। पुनः, पहुँचनेपर प्रणामादि कुछ नहीं किये, क्योंकि अब अपनेको उनसे भी अधिक समझते हैं—'कामको जीता है।' शत्रुको मरण स्वीकार होता है, प्रणत होना नहीं। काम तपस्वी लोगोंका शत्रु है, सो वह हार भी गया और मेरे सामने प्रणत भी हुआ। शिवजीने कामको भस्म कर दिया पर उसे प्रणत न कर सके। मेरा प्रभाव उनसे अधिक हो गया। (ग) अभीतक कामको जीतनेवाले केवल शङ्करजी थे; अहङ्कारके कारण उनके ही पास प्रथम गये—यह जताने कि कुछ आपने ही नहीं जीता है, हमने भी जीता है। आपको तो क्रोध भी हुआ था, आपकी समाधि भी छूटी थी, हमें ये कोई विघ्न उपस्थित नहीं हुए। इत्यादि।* (घ)***'गवने'*** (=गये) कहकर मुनिके मनमें अपनी जय प्रकट करनेकी अत्यन्त उत्सुकता दिखायी। चले न कहा, पहुँचना कहा। इस तरह अहङ्कारका प्रभाव चालपर भी संकेतरूपमें दिखा दिया गया है। जिसका आनन्द सिनेमा (Cinema) देखनेवाले ले सकते हैं।] ☞नारदजीके द्वारा यह उपदेश भगवान् दे रहे हैं कि हमारी रक्षासे काम-क्रोधादि जीते जाते हैं और बिना हमारी रक्षाके काम-क्रोधके वशीभूत होना होता है।

टिप्पणी—२ ***'मारचरित संकरहि सुनाए।'''''*** इति। (क) महादेवजी कुशल न पूछने पाये (न और कोई शिष्टाचार हुआ) दृष्टि पड़ते ही कामचरित कहने लगे। जाते ही कामचरित न कहने लगे होते तो महादेवजी कुशल पूछते, बैठाते (जैसा क्षीरसागरमें जानेपर भगवान्‌ने किया है, यथा—***'हरषि मिलेउ उठि कृपा निकेता। बैठे आसन रिषिहि समेता॥ बोले बिहँसि चराचर राया। बहुते दिनन्ह कीन्हि मुनि दाया॥'*** पुनः यथा—***'करत दंडवत लिए उठाई। राखे बहुत बार उर लाई॥ स्वागत पूछि निकट बैठारे। लछिमन सादर चरन पखारे॥'*** (३। ४१) (ख) ***'संकरहिं सुनाए',*** यहाँ शङ्कर अर्थात् कल्याणकर्ताको सुनाना कहा। इसीसे

---

* १-अहङ्कार यह भी हो सकता है कि श्रीशिवजी 'मोहिनी' स्वरूप देख कामको न रोक सके थे, ब्रह्मा, विष्णु भी कामजित् नहीं कहे जा सकते, त्रिलोकमें हमारे समान कोई नहीं।' ब्रह्मा सरस्वतीके पीछे दौड़े थे, विष्णु लक्ष्मीको छोड़ नहीं सकते। क्रोध अवश्य जीता है। 'अहमिति मन माहीं' शब्दोंसे मुख्य भाव यही जान पड़ता है। इन वचनोंमें व्यञ्जनामूलक गूढ़ व्यंग्य है। प० प० प्र० इससे सहमत हैं।

२—पंजाबीजी लिखते हैं कि 'किसीको अपूर्व वस्तु मिले तो उचित है कि वह उसे अपने मित्रको दिखावे। अथवा, जो विद्या किसीके पास होती है वह उस विद्याके आचार्यके पास जाकर अपने गुणोंको प्रकट करता है। श्रीशिवजी कामके जीतनेमें मुख्य हैं। अतः उनके पास प्रथम गये।'

शङ्करजी इनके कल्याणकी बातें इनसे कहते हैं। (ग) *'अति प्रिय जानि महेस सिखाए'* इति। सिखाया जिसमें इनकी दुर्दशा न हो। अति प्रियमें दोष देखे तो उसे उपदेश देना उचित है, यथा—*'कुपथ निवारि सुपंथ चलावा।'* (*'अति प्रिय'* होनेके ये कारण हैं कि आप परम भागवतोंमेंसे एक हैं। शङ्करजीको भगवद्भक्त अति प्रिय हैं, उसपर भी ये तो नाम-जापक हैं, इससे इनके अतिप्रिय होनेमें क्या सन्देह हो सकता है?—*'नारद जानेउ नाम प्रतापू। जग प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू॥'*

☞नोट—१ गोस्वामीजीका काव्यकौशल, उनके शब्दोंकी आयोजना देखिये। कामदेवके अनेक नामोंमेंसे यहाँ 'मार' को ही चुनकर रखा है। क्यों न हो! नारदजी सदा राम चरित गाया और सुनाया करते थे, यथा—*'बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत 'राम' के गावहिं॥ ""सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुनगानहिं॥ सनकादिक नारदहिं सराहहिं॥""'* (७। ४२) पुनश्च *'यह बिचारि नारद कर बीना। गए जहाँ प्रभु सुख आसीना। गावत राम चरित मृदु बानी। प्रेम सहित बहु भाँति बखानी॥'* (३। ४१) इत्यादि। शङ्करजी भी 'राम' चरितके रसिक हैं; अगस्त्यजीके पास इसी सत्सङ्गके लिये जाया करते हैं—*'रामकथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी॥'* भुशुण्डिके यहाँ मराल तन धरकर सुनी, इत्यादि। सो उनको आज नारदमुनि 'राम' चरित न सुनाकर 'मार' चरित सुनाते हैं। अहंकारने बुद्धि ऐसी पलट दी कि 'राम' का ठीक उलटा 'मार' आज उनके मुखसे गाया जा रहा है।

नोट—२ ☞शिवपु० रु० सं० २। २ में मिलानके श्लोक ये हैं—'**कामाज्जयं निजं मत्वा गर्वितोऽभू-न्मुनीश्वरः।""तथा संमोहितोऽतीव नारदो मुनिसत्तमः। कैलासं प्रययौ शीघ्रं स्ववृत्तं गदितुं मदी॥ रुद्रनत्वाब्रवीत्सर्वं स्ववृत्तं गर्ववान् मुनिः। मत्वात्मानं महात्मानं स्वप्रभुं च स्मरञ्जयम्॥ तच्छ्रुत्वा शङ्करः प्राह नारदं भक्तवत्सलः।**""'(२७, २९—३१) इसमेंके '**कामाज्जयम्**', '**निजं मत्वा गर्वितः**', '**कैलासं प्रययौ शीघ्रम्**', '**अब्रवीत्सर्वम्**।' '**शंकरः प्राह नारदं भक्तवत्सलः**', ये अंश मानसमें क्रमशः *'जिता काम'*, *'अहमिति मन माहीं'*, *'तब नारद गवने सिव पाहीं'*, *'सुनाये'*, और *'अतिप्रिय जानि महेस सिखाए'* हैं। पर मानसका *'मारचरित'* शिवपुराणके '**सर्वं स्ववृत्तं गर्ववान्**' आदिसे कहीं अधिक उत्कृष्ट और भावगर्भित है। *'अतिप्रिय जानि महेस सिखाए'* की जोड़में शि० पु० में शिवजीके वचन हैं '**शास्म्यहं त्वां विशेषेण मम प्रियतमो भवान्। विष्णुभक्तो यतस्त्वं हि तद्भक्तोऽतीव मेऽनुगः॥**' (३४) अति प्रियमें यह भी भाव आ गया कि विष्णुभक्त होनेसे तुम मुझे अति प्रिय हो।

बार बार बिनवौं मुनि तोही। जिमि यह कथा सुनायहु मोही॥ ७॥
तिमि जनि हरिहि सुनावहु[1] कबहूँ। चलेहु प्रसंग दुराएहु तबहूँ॥ ८॥
दो०—संभु दीन्ह उपदेस हित नहिं नारदहि सोहान।
भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान॥ १२७॥

शब्दार्थ—**प्रसंग**=विषयका लगाव या सम्बन्ध, वार्ता; बात; प्रकरण। दुराना=छिपाना; गुप्त रखना; सुनी-अनसुनी कर जाना; टाल जाना।

अर्थ—हे मुनि! मैं आपसे बारम्बार विनती करता हूँ कि जैसे आपने यह कथा मुझसे सुनायी है॥ ७॥ वैसे भगवान्‌को कदापि न सुनाइयेगा। (किन्तु उसका) प्रसङ्ग चले भी तब भी छिपाइयेगा (प्रकट न कीजियेगा)॥ ८॥ (श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) शङ्करजीने तो हितोपदेश किया अर्थात् उनके हितकी शिक्षा दी, पर वह नारदजीको अच्छी न लगी। हे भरद्वाज! हरिकी इच्छा बलवती है, उसका तमाशा सुनो॥ १२७॥

नोट—१ रुद्रसंहिता २। २ में मिलानके श्लोक ये हैं—'**वाच्यमेवं न कुत्रापि हरेरग्रे विशेषतः॥**

१. सुनायहु—१७२१, को० रा०। सुनाएहु-छ०। सुनावहु-१६६१, १७०४, १७६२।

पृच्छमानोऽपि न ब्रूयाः स्ववृत्तं मे यदुक्तवान्। गोप्यं गोप्यं सर्वथा हि नैव वाच्यं कदाचन॥ शास्म्यहं त्वां विशेषेण मम प्रियतमो भवान्। विष्णुभक्तो यतस्त्वं हि तद्भक्तोऽतीव मेऽनुगः॥ नारदो न हितं मेने (शिव) मायाविमोहितः॥' (३२—३५) अर्थात् (श्रीशिवजी कहते हैं—हे नारदजी!) जैसा यह समाचार आपने मुझसे कहा इस प्रकार अब कहीं भी न कहियेगा। विष्णुभगवान्‌के आगे तो पूछनेपर भी बिलकुल ही न कहियेगा, इसको गुप्त ही रखना, कभी भी न कहना॥ आप मुझको अत्यन्त प्रिय हैं इसलिये विशेषरूपसे आपको शिक्षण दे रहा हूँ, क्योंकि आप विष्णुभक्त हैं, जो उनका भक्त होता है वह विशेषरूपसे मेरे सम्मतिके अनुसार चलता है॥ परंतु भगवान्‌की मायासे मोहित होनेसे शिवजीका यह उपदेश नारदजीको अच्छा नहीं लगा॥' (३२—३५) ये सभी प्राय: उपर्युक्त चौपाई और दोहेमें आ जाते हैं।

टिप्पणी—१ '*बार बार बिनवौं मुनि तोही।*......' इति। (क) बड़े लोग प्रार्थना करके उपदेश देते हैं, यथा—'*बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥*' (५। २२) (श्रीहनुमान्‌जी) (१); '*तात चरन गहि माँगउँ राखहु मोर दुलार। सीता देहु राम कहँ अहित न होइ तुम्हार॥*' (५। ४०) (विभीषण) (२); '*औरौ एक गुपुत मत सबहिं कहउँ कर जोरि। संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि॥*' (७। ४५) (श्रीरामचन्द्र) (३); तथा यहाँ '*बार बार बिनवौं*' (४)। (नोट—यद्यपि शिवजी बड़े हैं तो भी विनय करते हैं; क्योंकि यह बड़ोंका स्वभाव है कि वे छोटोंके कल्याणार्थ अपनी मान-मर्यादा छोड़ विनय करके उनको समझाते हैं जिसमें वह उसे मान ले, धारण कर ले। (ख) '*बार-बार*' विनय करते हैं क्योंकि यह कथा भगवान्‌से अत्यन्त गुप्त रखनेयोग्य है। (ग) '*तोही*' भाषा में यह प्रेम और प्यारसूचक बोली है।)

टिप्पणी—२ '*तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहूँ*' इति। तात्पर्य कि हमें सुनानेसे कुछ चिन्ता वा हर्ज नहीं है, पर हरिको सुनानेसे तुम्हें दु:ख होगा। शिवजी जानते हैं कि भगवान् जनका अभिमान नहीं रखते (अर्थात् नहीं रहने देते)। यथा—'*होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥*' (७। ६२) (ख) '*चलेहु प्रसंग*......' अर्थात् हमसे बिना प्रसङ्ग चले ही यह कथा तुमने प्रकट की पर वहाँ भगवान् अवश्य प्रसंग चलायेंगे तब भी इसे गुप्त रखना, उनसे कदापि इसकी चर्चा न चलाना।

वि० त्रि० '*जिमि*.....*तिमि*' का भाव कि सत्य कथा सुनानेमें कोई रोक नहीं, परंतु सुनानेका ढंग ठीक नहीं है, इससे अभिमान टपकता है। अत: सिखाते हैं कि इस ढंगसे यह कथा हरिको कभी न सुनाना।

टिप्पणी—३ (क) '*संभु दीन्ह उपदेस हित नहिं नारदहि सोहान*' इति। हित उपदेश है, तो भी उनको न अच्छा लगा, यह क्यों? इसलिये कि नारदजी यह समझे कि हमारी बड़ाई इनको नहीं सुहायी, इनके हृदयमें मत्सर है। ये नहीं चाहते कि दूसरा कोई कामविजयी प्रसिद्ध हो, ये हमारा उत्कर्ष नहीं सह सकते। (ख) '*भरद्वाज कौतुक सुनहु*.....' इति यहाँ याज्ञवल्क्यजीकी उक्ति कही गयी, क्योंकि '*तब नारद गवने सिव पाहीं*' से लेकर '*संभु बचन मुनि मन नहिं भाए*' तक शिवजीकी उक्ति नहीं कहते बनती। शम्भुके वचन नारदको प्रिय न लगे, इसका कारण याज्ञवल्क्यजी '*हरि इच्छा*' बताते हैं। अर्थात् शिवजीने हरि-इच्छाके प्रतिकूल उपदेश दिया, इसीसे उनको अच्छा न लगा। हरि-इच्छा परम बलवती है, यदि हरि-इच्छा होती तो वचन सुहाते। (ग) '*बलवान*'—शिवजीका भी उपदेश न लगने पाया इससे '*बलवान*' कहा। बलवान् कहकर जनाया कि सबके ऊपर है। '*हरि इच्छा*' का प्रमाण, यथा—'*मृषा होउ मम श्राप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला॥*' (१३८। ३) पुन: भाव कि जब भक्तका कहा न माना तब हरि-इच्छा हुई कि अब इनकी दुर्दशा करनी चाहिये।

☞नोट—२ हितकी बात बुरी लगे तो जानना चाहिये कि उसे विधाता वाम हैं, यथा—'*हित पर बढ़े बिरोध जब अनहित पर अनुराग। राम बिमुख बिधि बाम गति सगुन अघाय अभाग॥*'

नोट—३ शंकरजीकी नम्रता और कल्याणकारक उपदेश विचारणीय हैं। परन्तु नारदजीमें अहंकारके कारण '*अपने मुख आपनि करनी*' वाली प्रशंसाका दोष भी उत्पन्न हो चुका था। वे भला क्यों मानते? वे 'घमण्ड' और 'बक्की हास्य चरित्र' बन चुके थे। (श्रीलमगोड़ाजी)

नोट—४ इस प्रसंगके आदिमें ही शिवजीने '*हरि इच्छा*' का बीज बो दिया था। वहाँ जो

कहा था कि *'जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ।'* (१२४) उसीको यहाँ चरितार्थ कर दिखाया है—*'हरि इच्छा बलवाना'* और *'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।'''''* प्रथम तो अपनी कृपासे भगवान्‌ने नारदजीको ज्ञानियोंकी सीमा (ज्ञानिशिरोमणि) बनाया और अब उन्हें मूर्खों-(कामियों-क्रोधियों-) की सीमा बनावेंगे। (मा० पी० प्र० सं०)

'हरि इच्छा' से यहाँ *'हरि इच्छारूपी भावी'* अभिप्रेत है। इसीको आगे चौपाईमें *'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई'* कहा है। यह *'हरि इच्छारूपी भावी'* अमिट है, यथा—*'हरि इच्छा भावी बलवाना।'* (१। ५६। ६) इसीको आगे *'करै अन्यथा अस नहिं कोई'* कहा है। *'कौतुक'* शब्दसे वक्ता स्पष्ट करते हैं कि भगवान् कुछ लीला करना चाहते हैं; यह *'कौतुक'* (लीलाकी इच्छा) ही हरि-इच्छा है। *'कौतुक'* शब्दसे हास्यका स्पष्ट संकेत है और *'हरि-इच्छा'* शब्दसे प्रकट है कि 'हास्यरस किसी नैतिक उद्देश्यसे ही प्रयुक्त किया जा रहा है जिसमें इच्छा सम्मिलित है।' *'हरि इच्छा भावी'* और कर्मानुसार प्रारब्ध भोगवाली भावीका भेद (१। ५६। ६) में लिखा जा चुका है।

नोट—५ जी० पी० श्रीवास्तवजीने ठीक कहा है कि यद्यपि बहुत-से और सूत्र हास्य कलाकारोंने ढूँढ़ निकाले हैं फिर भी अरस्तू (Aristotle) के समयसे अबतक पतन (Degradation) ही हास्यका मुख्य कारण माना जाता है। यहाँ नारदजीका पतन अहंकारके कारण है। लमगोड़ाजी अपनी पुस्तकके पृष्ठ २६ पर लिखते हैं कि श्रीवास्तवजीका यह कथन भी सत्य है कि हास्यरसका कुशल कलाकार हास्यको ठीक उस होशियार डाक्टरकी तरह प्रयुक्त करता है जो दोषको तनिक उभारकर उसे ओषधि तथा किसी प्रयोगद्वारा बाहर निकाल देता है। इसीसे हास्यरस नैतिक सुधारका सहायक माना गया है। हाँ, तुलसीदासजीका कमाल यह है कि महाकाव्यकलामें भी इसका सुन्दर प्रयोग कर दिया, नहीं तो मानो संसारमें यह धारणा-सी हो रही थी कि बिना लम्बा मुँह बनाये महाकाव्य लिखा ही नहीं जा सकता। इसीसे मिल्टन इत्यादिकी कला रूखी-सूखी हैं।

गान्धीजीने ठीक कहा है कि ईश्वरीय शक्तियाँ हमारे द्वारा कला उसी समय आरम्भ करती हैं जब हम अपने वैयक्तिक अहंकारको शून्य-गणनामें पहुँचा दें। सच है यह अहंकार ही है जो वैयक्तिक दोषोंको भुलाये रहता है।—नारदने जो तनिक कामपर विजय पायी तो अहंकार आ धमका। नारदने पहिले इन्द्र-सभामें अपनी विजयका वर्णन किया। (कामदेवद्वारा) वहाँ जो तारीफ हुई तो अहंकार और भड़क उठा। अब सीधे *'कामारि'* महादेवजीके पास पहुँचे—*'जिता काम अहमिति मन माहीं।'* (श्रीलमगोड़ाजी)

नोट ६ ☞—काम, क्रोध, लोभ और अहंकार इत्यादि भाई हैं। एक हार जाता है तो दूसरा लड़नेको पहुँचता है, इत्यादि। कामका पराजय हुआ तो अहंकारने आ दबाया। अब इनकी भली प्रकार दुर्दशा करायेगा।

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥ १॥
संभु बचन मुनि मन नहिं भाए। तब बिरंचि के लोक सिधाए॥ २॥
एक बार करतल बर बीना। गावत हरिगुन गान प्रबीना॥ ३॥
छीरसिंधु गवने मुनिनाथा। जहँ बस श्रीनिवास श्रुति माथा॥ ४॥

शब्दार्थ—**अन्यथा**=विरुद्ध, जैसा है उसका उलटा, और-का-और, विपरीत। **श्रीनिवास**=लक्ष्मीजीमें रमण करनेवाले, श्रीके स्थान, जिनमें श्रीका निवास है, श्रीयुक्त, लक्ष्मीपति। बैजनाथजी इसका अर्थ 'लक्ष्मीजीका धाम (पितापक्षमें) क्षीरसागरमें' ऐसा करते हैं। **'बर बीना'**—'**वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः। तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति॥**' (याज्ञवल्क्य) यह प्रचीनकालका एक प्रसिद्ध बाजा है जिसका प्रचार अबतक भारतके पुराने ढंगके गवैयोंमें है। इसमें बीचमें एक लम्बा पोला दण्ड होता है, जिसके दोनों सिरोंपर दो बड़े-बड़े तूँबे लगे होते हैं और एक तूँबेसे दूसरे तूँबेतक बीचके दण्ड परसे होते हुए लोहेके तीन और पीतलके चार तार लगे रहते हैं। लोहेके तार पक्के और पीतलके कच्चे कहलाते हैं। इन सातों तारोंको

कसने या ढीला करनेके लिये सात खूँटियाँ रहती हैं। इन्हीं तारोंको झनकार कर स्वर उत्पन्न किये जाते हैं। भिन्न-भिन्न देवताओं आदिके हाथमें रहनेवाली वीणाओंके नाम अलग-अलग हैं। जैसे, महादेवके हाथकी वीणा लम्बी, सरस्वतीके हाथकी कच्छपी, नारदके हाथकी महती इत्यादि।—(श० सा०) **श्रुतिमाथ**=समस्त श्रुतियोंके मस्तक, पुरुषसूक्त। शिरोभाग अर्थात् जिसको श्रुतियोंने मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना है। यथा—'**वेदानां प्रबला मन्त्रास्तस्मादध्यात्मवादिनः। तस्माच्च पौरुषं सूक्तं न तस्माद्विद्यते परम्॥**' (१)

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी जो करना चाहते हैं वही होगा। ऐसा कोई नहीं जो उसके विरुद्ध कर सके (वा, उनकी इच्छाको व्यर्थ कर सके)॥ १॥ श्रीशिवजीके वचन मुनिके मनको न अच्छे लगे तब वे ब्रह्मलोक-को चल दिये॥ २॥ एक बार हाथमें श्रेष्ठ वीणा लिये हुए गानविद्यामें निपुण मुनिनाथ नारदजी हरिगुण गाते हुए क्षीरसागरको गये, जहाँ वेदोंके मुख्य प्रतिपाद्य पूज्य श्रीनिवास भगवान् रहते हैं॥ ३-४॥

टिप्पणी—१ (क) *'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।……'* अर्थात् श्रीरामजी कौतुक (लीला) करना चाहते हैं, शिवजी उनकी इस इच्छाको (नारदको उपदेश देकर) अन्यथा करना चाहते थे सो न कर सके, भगवान्‌की इच्छा ही हुई। ☞*'हरि इच्छा बलवान'* की इन दोनों चरणोंमें व्याख्या की है। *'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई'* यह हरिकी इच्छा कही और *'करै अन्यथा अस नहिं कोई'* यह हरि-इच्छाका बल कहा; यथा—*'हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत संभु सुजाना॥'* (१। ५६। ६) (ख) *'संभु बचन मुनि मन नहिं भाए……'* इति। हरि-इच्छा बलवान् है इसीसे वचन न भाये। अतएव वहाँसे चल दिये। यह भी न पूछा कि आप मुझे चरचा करनेसे क्यों रोकते हैं? *'तब बिरंचिके लोक सिधाए'* से जनाया कि बैठे नहीं, यदि शिवजी प्रशंसा करते तो बैठते। (ग) *'संभु दीन्ह उपदेस हित नहिं नारदहि सोहान'* पर प्रसंग छोड़ा था, बीचमें वचन प्रिय न लगनेका कारण कहने लगे। अब पुनः वहींसे कहते हैं—*'संभु बचन……।'* (घ) *'तब बिरंचि के लोक सिधाए'* इति। शिवजीसे कहकर अब ब्रह्माको अपना विजय विदित करनेको चले। [अथवा, ब्रह्मलोकमें रहते ही हैं, अतएव बात अच्छी न लगी तो अपने घर चल दिये। ब्रह्माजीको सुनाना न कहा, क्योंकि पितासे (कामचरित) कहना उचित न समझा, अयोग्य समझा। (मा० पी० प्र० सं०)] *'बिरंचि के लोक'* कहनेका भाव कि ब्रह्मलोकमें सबसे कहा, ब्रह्माजीसे यह बात स्वयं न कह सकते थे क्योंकि वे पिता हैं, लोकमें सबको मालूम हो जानेसे उनके द्वारा वहाँ भी खबर पहुँच जायगी। यह उपाय रचकर अब क्षीरशायी भगवान्‌पर अपना पुरुषार्थ प्रकट करने जायँगे।

टिप्पणी—२ *'एक बार करतल बर बीना।……'* इति। (क) *'एक बार'* से जनाया कि कुछ दिनों बाद, कुछ काल बीतनेपर गये, तुरत नहीं गये। ब्रह्मलोक नारदका घर है, अतः कुछ दिन घर रह गये। (ख) *'बर बीना'* का भाव कि आप गानमें तथा वीणा बजानेमें प्रवीण हैं। ☞*'गावत हरि गुनगान प्रबीना'* अर्थात् हरिगुण ही गाते हैं अन्यथा (इसके अतिरिक्त और) कुछ नहीं गाते, यथा—*'यह बिचारि नारद कर बीना। गए जहाँ प्रभु सुख आसीना॥ गावत रामचरित……।'* (३। ४१) *'गगनोपरि हरिगुनगन गाए। रुचिर बीर रस प्रभु मन भाए॥'* (६। ७०) *'तेहि अवसर मुनि नारद आए करतल बीन। गावन लागे राम कल कीरति सदा नबीन॥'* (७। ५०) तथा यहाँ *'गावत हरिगुन……।'* (ग) जब शिवजीके यहाँ गये तब वीणा बजाना, हरिगुण गाना नहीं कहा और जब भगवान्‌के यहाँ चले तब गाते-बजाते चले, क्योंकि ये अपने इष्ट हैं, इष्टके मिलनेमें प्रेम है। (वा, ब्रह्मलोकमें कुछ दिन रह जानेसे अहंकार कुछ शान्त हो गया है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि इस समय जगत्‌में कोई ऐसा गायक नहीं है जो वीणापर गान कर सके। तानपूरापर ही गानेवाले कम हैं पर नारद गानमें ऐसे प्रवीण हैं कि वीणापर गान करते हैं।)

टिप्पणी—३ *'छीर सिंधु गवने मुनि नाथा।……'* इति। *'छीर सिंधु गवने'* का भाव कि जय-विजय और जलन्धर इन दो कल्पोंमें वैकुण्ठवासी विष्णुका अवतार कहा, अब नारायणके अवतारकी कथा कहते हैं। [या यों कहें कि जय-विजय, रावण-कुम्भकर्णवाले कल्पमें जय-विजयको शाप श्रीरामावतारका

हेतु था, जलन्धरवाले कल्पमें वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णुको वृन्दाका शाप श्रीरामावतारका हेतु था और नारद-मोहवाले कल्पमें क्षीरसागरशायी भगवान् नारायणको शाप अवतारका हेतु होना था। जहाँ जिसके हेतुसे अवतार होता है, वहाँ उसकी कथा कही जाती है। इसीसे यहाँ नारदजीका क्षीरसागरमें श्रीमन्नारायणके पास जाना कहा गया। (यह भाव उनके मतानुसार होगा जो भगवान् विष्णु और श्रीमन्नारायणका *'रामावतार'* लेना नहीं मानते)]

(ख) भगवान्‌के पास चले इसीसे *'मुनिनाथ'* विशेषण दिया। क्योंकि जो भगवान्‌के पास पहुँचे (उनको प्राप्त हो) वही सबसे बड़ा है। (ग) *'जहँ बस श्रीनिवास'* इति। **श्रीनिवास**=जिनमें लक्ष्मीजीका निवास है। तात्पर्य कि लक्ष्मीसहित जहाँ भगवान् निवास करते हैं। इसी अभिप्रायसे *'श्रीनिवास'* कहा। (घ) *'श्रुतिमाथा'* अर्थात् सब श्रुतियाँ जिनका कथन करती हैं। तात्पर्य कि जो सब वेदोंके तत्त्व हैं जिनको वेद निर्गुण-सगुण वर्णन करते हैं, वही चतुर्भुज स्वरूप धारण करके क्षीरसिन्धुमें बसते हैं; यह श्रुतिमाथाका अभिप्राय है। [प्रमाण यथा—'**जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः। सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥**' (भा० १। ३। १)]

बाबा हरिदासजी—*'श्रुतिमाथ'* का भाव—'वेद जिसका माथा है। अर्थात् जो कोई श्रुतिमें विरोध करता है तो भगवान्‌का सिर दुखता है। नारदजी जगद्गुरु शिवजीकी शिक्षा त्यागकर यहाँ आये हैं (सो ये उनका) मानमर्दन करेंगे।'

वि० त्रि०—उस सहस्रशीर्षा पुरुषका सिर वेद है, यथा—भागवत—'**छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति।**' इसलिये उसे *'श्रुतिमाथ'* कहा।

हरषि मिलेउ* उठि रमानिकेता†। बैठे आसन रिषिहि समेता॥५॥
बोले बिहसि चराचर राया। बहुते दिनन्ह‡ कीन्हि मुनि दाया॥६॥

अर्थ—रमानिवास (लक्ष्मीपति) भगवान् श्रीमन्नारायण प्रसन्नतापूर्वक उठकर उनसे मिले और देवर्षि नारदसहित आसनपर बैठे॥५॥ चराचरके स्वामी भगवान् हँसकर बोले—'हे मुनि! (इस बार आपने) बहुत दिनोंमें कृपा की'॥६॥

टिप्पणी—१ *'हरषि मिलेउ……'* इति। (क) हर्षपूर्वक मिलनेका भाव कि जैसे भगवान्‌के दर्शनसे, उनके मिलनेसे दास-(भक्त-) को हर्ष होता है, वैसे ही दासके दर्शनसे, उसके मिलनेसे भगवान्‌को हर्ष होता है। [पंजाबीजी लिखते हैं कि इन्होंने काम-क्रोधको जीता है, इससे इनका आदर किया। अथवा, हर्षपूर्वक उठकर मिलनेमें गूढ़ भाव यह है कि इससे इनका अभिमान और बढ़ेगा तब ये शंकरजीका उपदेश भूल जायँगे और हमें कौतुक देखनेको मिलेगा।' बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'भवसागर तरनेकी उपयोगिनी जो हमारी लीला है उसके प्रारम्भमें सहायक हुए, यह जानकर हर्ष है।' (रा० प्र०) वस्तुतः प्रसन्नतापूर्वक उठकर मिलना शिष्टाचार है। ऐसा करना भारी आदर-सत्कारका द्योतक है]। (ख) *'मिलेउ उठि'* क्योंकि श्रीमन्नारायण क्षीरसागरशयन हैं, यहाँ वे सदा शयन ही किये रहते हैं। यथा—*'**करौ सो मम उर धाम सदा छीरसागर सयन**'* (मं० सो० ३), '**भुजग शयनम्**', '**नमस्ते जलशायिने।**' अतः उठकर मिलना कहा। (ग) *'रमानिकेता'* कहकर *'श्रीनिवास'* जो पूर्व कह आये हैं उसका अर्थ स्पष्ट किया। जैसे, *कृपानिकेत*=कृपाके स्थान; वैसे ही, *'रमानिकेत'*=श्रीजीके निवासस्थान। 'रमानिकेत' का भाव कि जैसे आप रमाजीको हृदयमें बसाये हैं वैसे ही आपने नारदजीको हृदयसे लगा लिया। अथवा भाव यह कि यद्यपि आप रमानिकेत हैं; तथापि धर्ममें प्रमाद नहीं है, साधुओं, विप्रोंसे मिलनेमें एवं उनका मान करनेमें सावधान हैं। अथवा, रमानिकेत हैं इससे महात्माओंका आदर करके सदा रमाकी रक्षा करते रहते हैं।

* मिले—१७२१, १७६२, को० राम। मिलेउ—१६६१, १७०४। † उठे प्रभु कृपा निकेता—छ०। ‡सं० १६६१ में मूलमें 'दिन' है। छूटा हुआ एक 'न' हाशियेपर दूसरी स्याहीसे बनाया गया है।

साधुके अनादरसे, उनका अपमान करनेसे लक्ष्मीका नाश है, यथा—'**आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च। हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः॥**' (भा०) अर्थात् बड़ोंका आदर न करनेसे अथवा उनका अपमान करनेसे छोटोंकी आयु, श्री, यश, धर्म, परलोक, आशीर्वाद एवं सब प्रकारके कल्याण नष्ट होते हैं। ब्राह्मणोंका मान करते हैं इसीसे रमानिकेत हैं, रमा सदा यहीं बसती हैं, कभी इन्हें छोड़ती नहीं। (घ)—'***बैठे आसन*……' इति। अर्थात् अपने बराबर अपने ही आसनपर बैठाया, दूसरा आसन न दिया। (यह अत्यन्त आदरका तथा प्रसन्नताका स्वरूप है। दूसरे, इस कथनसे मुनिके अहंकारकी वृद्धि भी दिखा रहे हैं। स्वामीके बराबर या उनके आसनपर बैठना दासके लिये अयोग्य है। नारदजीने प्रणामतक न किया और आसनपर बराबर बैठ गये, सम्भवतः यह विचारकर कि भगवान् भी हमको बराबरका मानते हैं तभी तो साथ बैठाते हैं। अथवा अपनेको त्रिदेवसे श्रेष्ठ मानकर बराबर बैठे, यह समझकर कि इन्होंने भी तो केवल क्रोधको जीता है, स्त्री साथ रखते हैं; अतः ये भी कामजित् नहीं कहे जा सकते और मैंने दोनोंको जीता है)। विशेष आगे चौ० ८ में देखिये।

प० प० प्र०—नारदजीको मोहित करनेकी प्रक्रिया क्षीरसागरमें ही शुरू हो गयी। इसका सच्चा कारण तो अहंकारवश होकर शिवजीके उपदेशका मनमें तिरस्कार और बाह्यतः उनका अपमान करना ही है। शिवसमान प्रियतम भक्तका अपमान भगवान् सह नहीं सकते; इसीसे तो अन्तमें जो प्रायश्चित्त कहा वह शिव-शतनामका जप ही कहा, यथा—'*जपहु जाइ संकर सत नामा।*'

नोट—१ '*बोले बिहसि*……' इति। यहाँसे इतने सुन्दर प्रहसनका मुख्य भाग प्रारम्भ होता है कि जिसका उदाहरण साहित्यजगत्‌में मिलना अवश्य ही कठिन है। इस प्रहसन-प्रसंगमें तो हास्यरस कूट-कूटकर भरा है। हाँ! शिव-विवाहमें वह अवश्य है, पर आंशिक ही है। (लमगोड़ाजी)

टिप्पणी—२ '*बोले बिहसि चराचर राया*……' इति। भाव यह कि —(क) जिस प्रसन्नतासे उठकर मिले थे उसी प्रसन्नतासे 'हँसकर' बोले। अथवा (ख) '*हास*' भगवान्‌की माया है। यथा—'***हासो जनोन्मादकरी च माया।***', '***माया हास बाहु दिगपाला।***' (६। १५५) हँसे नहीं कि माया फैलायी; यथा—'***भ्रम तें चकित राम मोहि देखा। बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा॥***' (७। ७९। ४) जब-जब मायाका कौतुक दिखाना अभिप्रेत हुआ है तब-तब प्रभु हँसे हैं। हँसते ही कौसल्या अंबा, महामुनि विश्वामित्र, वाल्मीकिजी तथा भुशुण्डिजी आदि मायासे मोहित हो गये। देखिये, कौसल्याजीने जब स्तुति करते हुए कहा कि '***ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै। मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥***' तब प्रभु मुसकरा दिये क्योंकि उनको तो चरित करना था। '***प्रभु मुसुकाना चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै।***' बस, वहींसे माताकी बुद्धि पलट गयी, यथा—'***माता पुनि बोली सो मति डोली*……।**' (१। १९२) विश्वामित्रजी प्रभुका ऐश्वर्य खोले देते थे, यथा—'***कह मुनि बिहँसि कहेहु नृप नीका। बचन तुम्हार न होइ अलीका॥ ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।***' (१। २१६) इसपर ☞'***मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी।***' प्रभुके मुसकराते ही वे मोहित हो माधुर्य कहने लगे—'***रघुकुलमनि दसरथ के जाए।***' वाल्मीकिजीने जब कहा—'***पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ मैं पूछत सकुचाउँ। जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ॥***' (२। १२७) तब '***सुनि मुनि बचन प्रेमरस साने। सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने॥***' बस वहींसे माधुर्यमें आ गये। वैसे ही यहाँ देवर्षिजी तो इस '***बिहसि***' बोलनेको अपने ऊपर भगवान्‌की बड़ी भारी प्रसन्नता समझ रहे हैं और पड़ गये हैं मायाके जालमें।—प्रभुने हँसकर मायाका विस्तार किया अर्थात् माया फैलायी जिससे नारदजी मोहित हो कामचरित कह चले। [अथवा (ग) अपनी मायाकी प्रबलतापर हँसे। यथा—'***निज माया बलु हृदय बखानी। बोले बिहँसि राम मृदु बानी॥***' (१। ५३) (सती-मोह-प्रसंगमें), वैसे ही यहाँ '***बोले बिहसि।***' अथवा, (घ) यह प्रभुका सहज स्वभाव है। सदा प्रसन्नवदन रहते हैं और हँसकर बोलते हैं—'**स्मितपूर्वाभिभाषी।**' वैसे ही यहाँ प्रसन्नतापूर्वक मिले और बोले। (ङ) इससे भगवान्‌का सौशील्य दरसाया। (च) हँसनेका भाव कि हमारी रक्षाको भूल गये; शरणागति त्याग अहंकारसे फूले नहीं समाते।

(वै०, रा० प्र०) वा, (छ) **'नारं ज्ञानं ददातीति नारदः'** जो दूसरोंको ज्ञानोपदेश करते थे वही इस समय ऐसे अभिमानयुक्त हो गये कि शिवजीका हितोपदेश भी उनको बुरा लगा, यह सोचकर हँसे। (पां०, रा० प्र०) वा, (ज) मुनिकी मूढ़तापर हँसे, इनके अभिमानपर हँसे। (पं०)]

नोट—२ *'बिहसि'* की मुसकान गजबकी है। वह साफ बता रही है कि भगवान् सारे रहस्यको समझ गये। नारद तो अहंकारमें भरे थे ही, तनिक-से प्रश्नपर ही उन्होंने सारा प्रसंग कह सुनाया। परम कौतुकी भगवान्की लीला आगे देखिये।

टिप्पणी—३ (क) *'चराचर राया'* का भाव कि जो चराचरमात्रपर दया करते हैं, वे ही अपने ऊपर मुनिकी दया बताते हैं—*'कीन्हि मुनि दाया।'* इससे सूचित करते हैं कि हमारे भक्त हमसे अधिक हैं। यथा—*'सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोते संत अधिक करि लेखा॥'* (३। ३६। ३) *'मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥'* (७। १२०) अथवा, भाव कि चराचरके हितार्थ लीला किया चाहते हैं। (ख) *'बहुते दिनन्ह......'* इति। ☞ यह कहा जिसमें नारदजी इतने दिन न आनेका हेतु 'कामप्रसंग' कहें। ऐसा ही हुआ भी।

नोट—३ नारदजीने अभीतक अपनेसे कामके प्रसंगको नहीं कहा। भगवान् उस प्रसंगको इस चतुरतासे छेड़ रहे हैं। शंकरजीने जो कहा था कि *'चलेहु प्रसंग दुरावहु तबहूँ।'*, भगवान्का *'बहुते दिनन्ह कीन्हि मुनि दाया'* यह कथन ही 'प्रसंगका चलना' है, यही उस *'चलेहु प्रसंग'* का अभिप्राय था। भगवान् शंकर भगवान्का स्वभाव जानते हैं, यथा—*'जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ।'* वे ये भी जानते हैं कि प्रभु *'जन अभिमान न राखहिं काऊ'*, वे समझते थे कि भगवान् इनका अहंकार मिटानेके लिये अवश्य छेड़ेंगे। इसीसे उन्होंने छिपानेकी ताकीद कर दी थी। वही प्रसंग छिड़ा। ध्वनिसे भाव यह है कि इतने दिनोंपर अबकी दर्शन हुए, क्या कहीं चले गये थे? पहले तो शीघ्र-शीघ्र दया करते थे, अबकी बहुत दिनपर दर्शन दिये। हमसे कोई अपराध तो नहीं हो गया जो दया कम कर दी? इसके उत्तरमें अवश्य कहेंगे कि और कोई बात नहीं है। हमने समाधि लगायी थी, इन्द्रने कामदेवको भेजा इत्यादि।

नोट—४ रुद्र सं० २। २ में प्रसंगके श्लोक ये हैं—**'आगच्छन्तं मुनिं दृष्ट्वा नारदं विष्णुरादरात्। उत्थित्वाग्रे गतोऽनन्तः शिश्लेष ज्ञातहेतुकः॥ ४३॥ स्वासने समुपावेश्य''''॥४२॥ कुत आगम्यते तात किमर्थमिह चागतः। धन्यस्त्वं मुनिशार्दूल तीर्थोऽहं तु तवागमात्॥'**(४४) अर्थात् मुनिको आये हुए देखकर भगवान्ने आदरपूर्वक उठकर आगे जाकर उनका सत्कार किया क्योंकि वे कारणोंको जानते थे। अपने आसनपर उनको बिठाकर बोले—हे तात! इस समय आप कहाँसे आ रहे हैं और किस कारणसे आपका आगमन हुआ है। हे मुनिश्रेष्ठ! आप धन्य हैं। आपके आगमनसे मैं पवित्र हो गया। मानसके **'बहुते दिनन्ह कीन्हि मुनि दाया'** में शि० पु० से कितनी अधिक सरलता, रोचकता और साथ ही व्यंग है। पाठक स्वयं देख लें।

काम चरित नारद सब भाषे। जद्यपि प्रथम बरजि सिव राखे॥७॥
अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया॥८॥
दोहा—रूख बदन करि बचन मृदु बोले श्रीभगवान।
तुम्हरे सुमिरन तें मिटहिं मोह मार मद मान॥१२८॥

शब्दार्थ—**बरजना**=मना करना। **प्रचंड**=प्रबल, कठिन। **जाया**=जन्म लिया, पैदा हुआ। **रूख** (रुक्ष)=रूखा-सूखा, मुसकराहटरहित, उदासीन।

अर्थ—यद्यपि शिवजीने उन्हें प्रथम ही मना कर रखा था (तथापि) नारदजीने कामदेवका सारा चरित कह सुनाया॥ ७॥ श्रीरघुनाथजीकी माया अत्यन्त प्रचण्ड है। जगत्में ऐसा कौन पैदा हुआ जिसे वह मोहित न कर सके? (अर्थात् ऐसा कोई नहीं है)॥८॥ रूखा मुख करके श्रीभगवान् कोमल वचन बोले कि

आपका स्मरण करनेसे (दूसरोंके) मोह, काम, मद और अभिमान मिट जाते हैं (तब भला ये आपको कब व्याप सकते हैं?)॥ १२८॥

टिप्पणी—१ (क) *'कामचरित नारद सब भाषे'* अर्थात् उन्होंने पूरा-पूरा वृत्तान्त आदिसे अन्ततक विस्तारपूर्वक कहा। शंकरजीका उपदेश भूल गये वा न माना। इसीपर आगे कहते हैं। (ख) *'अति प्रचंड रघुपति कै माया'* इति। ☞ *'अति प्रचंड'* से चण्ड, प्रचण्ड और अति प्रचण्ड तीन प्रकारकी मायाका बोध कराया। देवताओंकी माया *'चण्ड'* है, ब्रह्मा-शिवादिकी माया *'प्रचण्ड'* है और रघुपतिकी माया *'अति प्रचण्ड'* है। ☞ देखिये कि जब मायाने सतीजीसे झूठ कहलवाया तब याज्ञवल्क्यजीने मायाकी बड़ाई की, यथा—*'बहुरि राम मायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा॥'* और यहाँ भी जब उसने नारदसे कामचरित कहलवाया तब भी मायाकी बड़ाई की कि *'अति''''जेहि न मोह।'* भाव यह है कि इस समय मायाके वश होनेसे शिवजीका कहना न माना। संसारमें ऐसा कोई भी नहीं है जिसे श्रीरामजीकी माया न मोहित कर सके। यथा—*'मन महुँ करइ बिचार बिधाता। माया बस कबि कोबिद ज्ञाता॥ हरि माया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा॥ अगजगमय जग मम उपराजा। नहिं आचरज मोह खगराजा॥'* (७। ६०) *'नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनिनायक आतमबादी॥ मोह न अंध कीन्ह केहि केही।''''''यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनै पारा॥ सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥'* (७। ७०-७१) बा० ५१ भी देखिये। पुनः यथा—*'को न क्रोध निर्दह्यो काम बस केहि नहिं कीन्हो। को न लोभ दृढ़ फंद बाँधि त्रासन करि दीन्हो? कवन हृदय नहिं लाग कठिन अति नारि नयन सर? लोचन जुत नहिं अंध भयो श्री पाइ कौन नर? सुर नाग लोक महि मंडलहु को जु मोह कीन्हों जय न? कह तुलसिदास सो ऊबरै जेहि राख राम राजिवनयन।'* (क० उ० ११७) *'जद्यपि बरजि''''''* यथा—*'बार बार बिनवौं मुनि तोही'* से *'संभु दीन्ह उपदेस हित'* तक।

टिप्पणी—२ (क) यहाँ राम, विष्णु और नारायणमें स्वरूपतः अभेद दिखानेके लिये *'बिष्णु'* को (श्रीभगवान्) कहा और पूर्व *'राम'* कहा था, यथा—*'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥'* (१२८। १) (बाबा हरिदासाचार्यके मतानुसार भाव यह होगा कि अवतार तो श्रीरामजीकी ही इच्छासे होता है, उन्हींको अवतार लेना है। इस बातको सूचित करनेके लिये ही यहाँ प्रारम्भमें उनकी इच्छा कही और फिर आगे तो लीलामात्र है।) (ख) नारदजीने शिवजी, ब्रह्माजी और श्रीमन्नारायणजी तीनोंसे कामचरित प्रकट किया। त्रिदेवसे कहकर यह जनाया कि हम तीनोंसे बड़े हैं। ब्रह्माजी कन्याके पीछे दौड़े, शिवजी मोहिनीरूप देखकर अपनेको न सँभाल सके और विष्णुने जलन्धरकी स्त्रीको ग्रहण किया। कोई कामको न जीत सका। हमने कामको जीता।

टिप्पणी—३ *'रूख बदन करि'* इति। भाव कि अभिमानकी बात भगवान्‌को अच्छी न लगी। (*'करि'* में भाव यह है कि उनका मुखारविन्द कभी रूक्ष नहीं रहता, वे तो सदा प्रसन्नवदन ही रहते हैं पर मुनिके हितार्थ उन्हें रूखी चेष्टा करनी पड़ी) जैसे बच्चेको फोड़ा हो जानेपर माता उसके हितार्थ कठोर बन जाती है। यथा—*'जन अभिमान न राखहिं काऊ।''''''ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवकपर ममता अति भूरी॥ जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं॥ मातु चिराव कठिन की नाईं॥'* (७। ७४)

नोट—१ *'रूख बदन करि''''''* इति। जब किसी वस्तुमें चिकनाहट (घी, तेल इत्यादिकी) लग जाती है तब उसे रूखी-सूखी वस्तुसे (जैसे राख, मिट्टी, बेसन, आटा) मलते हैं तो चिकनाहट दूर हो जाती है। यहाँ नारद मुनिका हृदय अहंकाररूपी चिकनाईसे स्निग्ध हो गया है, इसी चिकनाहटको मिटानेके लिये रूखी वस्तु चाहिये। (रा० प्र०) भगवान्‌के मुखकी इस समयकी चेष्टा रूखी वस्तु है। मुख रूखा करनेका यही भाव है कि यह बात हमको अच्छी नहीं लगी, हम इस अहंकारको मिटावेंगे।

प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि 'और बार तो रामचरित सत्संगवार्ता होती थी, अबकी काम-चरित। क्योंकि इनका हृदय कामसे स्निग्ध है। चिकना है तो उसको मिटानेको रूखी वस्तु चाहिये ही।'

कोई ऐसा कहते हैं कि 'भगवान्ने (जो) स्नेहका बर्ताव किया जिससे मुनिका अहंकार बढ़ता गया (वही) स्नेह तैलवत् स्निग्ध (चिकनी) वस्तु है। भगवान् उस स्नेहको हटाकर रूखे बन रहे हैं।'

टिप्पणी—४ *'बचन मृदु बोले'* इति। मृदु वचन बोलनेमें भाव यह है कि रूखा मुँह करके रूखा वचन बोलने थे पर वे रूखे वचन न बोलकर *'मृदु बचन'* ही बोले, क्योंकि भगवान् तो सदा मृदुभाषी ही हैं, वे तो अहित करनेवालेसे भी कठोर नहीं बोलते। (रूखे वदनसे प्राय: कोमल वचन नहीं ही निकलते, इसीसे यहाँ ऐसा कहा)

नोट—२ मृदु वचन बोलनेके और भाव ये हैं कि (१) जिसमें नारदको दु:ख न हो। अथवा, (२) भगवान् सत्त्वगुणके स्वरूप हैं, वे कठोर शब्द कभी बोलते ही नहीं, यह उनका सहज शील स्वभाव है। वा, (३) 'यद्यपि मुनिको अहंकारने दबा लिया है तो भी वे प्रभुके लाड़ले ही हैं, इनके हृदयमें चोट न लगे, यह समझकर 'कोमल वचन बोले'। (रा० प्र०)अथवा, (४) 'क्रोधादिक भगवान्के अधीन हैं' इससे। अथवा, (५) रूखा मुँह करनेपर पुन: विचार किया कि अभी-अभी हमने इनका सम्मान किया था अब तुरत अपमान करना योग्य नहीं। अथवा, (६) गर्व दूर करनेके निमित्त रूखा बदन कर लिया था और इस विचारसे मृदु वाणी बोले कि अभी इसका कौतुक देखना है; इन्होंने हमारे परमप्रिय शंकरजीका उपदेश न माना। अब हम इन्हीं काम-क्रोधादिकसे इनको लज्जित करायेंगे। (पं०)

टिप्पणी—५ *'श्रीभगवान'* इति। (क) *'श्रीभगवान'* का भाव कि षडैश्वर्यसम्पन्न हैं, उससे शोभित हैं। 'अति प्रचंड माया' के प्रेरक होनेसे यहाँ 'भगवान्' कहा। यथा—**'वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति।'** [अथवा, (ख) भाव कि देवर्षि नारदका मन कामादिसे डिगनेवाला न था; परंतु भगवान् जैसा चाहें वैसा कर दें। (रा० प्र०)]

नोट—३ भगवान्के इस वाक्यमें, *'तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं·····'* व्यंग्य भी भरा हुआ है। तुम्हारे लिये कामका जीत लेना कौन बड़ी बात है जब कि तुम्हारा स्मरणमात्र करनेसे दूसरे उसपर जय पाते हैं? इसमें अभिप्राय यह भरा है कि अभी कामादि तुम्हारे नहीं मिटे हैं। हाँ, अब हम मिटानेका उपाय किये देते हैं, तुम्हारा मोह *'सुमिरे'* ही मिटेगा, यथा—*'जपहु जाइ संकर सत नामा। होइहि हृदय तुरत बिश्रामा॥'* (१। १३८)।—(रा० प्र०)

बैजनाथजी लिखते हैं कि 'तुम भगवत्-शरणागति भूले हो, जब उसे पुन: स्मरण करोगे तब शुद्ध होगे।' पुन:, तुम्हारा ज्ञान दूर हो गया अतएव तुम्हें मोहादिक अब व्यापेंगे, यह व्यंग्यसे जनाया। अब तुम्हें शीघ्र ही मनोभव-पीड़ा होगी।

टिप्पणी—६ ☞मोह महिपालके तीन सुभट हैं—'मार, मद और मान! *'मिटहिं मार·····'* का भाव कि आपके स्मरणमात्रसे सेनासहित राजाका नाश हो जाता है। (भाव कि आपका दर्जा बहुत ऊँचा है। वीतरागमें चित्तकी धारणा करनेसे समाधि सिद्ध होती है। वि० त्रि०)

नोट—४ मिलानके श्लोक, यथा—**'विष्णुवाक्यमिति श्रुत्वा नारदो गर्वितो मुनिः। स्ववृत्तं सर्वमाचष्ट समदं मदमोहितः॥'**(रुद्र सं० २। २। ४५) '·····**धन्यस्त्वं मुनिशार्दूल तपोनिधिरुदारधीः। भक्तित्रिकं न यस्यास्ति काममोहादयो मुने॥'**(५१) अर्थात् भगवान्के वाक्य सुनकर गर्वित हुए मुनि अपना सब वृत्तान्त मदसहित कह गये। तब भगवान् बोले—'मुनिश्रेष्ठ! तपोनिधि, उदार बुद्धिवाले आप धन्य हैं! जिनके हृदयमें त्रिदेवकी भक्ति नहीं है, उसीको काम और मोहादि सताते हैं।—पाठक देखें *'तुम्हरे सुमिरन तें मिटहिं मोह मार मद मान'* कितने उच्च, कितने उत्कृष्ट हैं।

सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाकें॥ १॥
ब्रह्मचरज ब्रत रत मतिधीरा। तुम्हहि कि करै मनोभव पीरा॥ २॥
नारद कहेउ सहित अभिमाना। कृपा तुम्हारि सकल भगवाना॥ ३॥
करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी॥ ४॥

शब्दार्थ—**अंकुर**=अँखुआ, गाभ, अँगुसा, कल्ला, नवोद्भिद। **अंकुरेउ**=अंकुर निकला है।

अर्थ—हे मुनि! सुनिये। मोह तो उसीके मनमें होता है कि जिसके हृदयमें ज्ञान-वैराग्य नहीं है॥ १॥ और आप ब्रह्मचर्य-व्रतमें तत्पर हैं, धीरबुद्धि हैं, (भला) आपको कामदेव कैसे पीड़ित कर सकता है? ॥ २॥ नारदजीने अभिमानसहित कहा—'भगवन्! यह सब आपकी कृपा है॥ ३ ॥ दयासागर भगवान्‌ने मनमें विचारकर देखा कि इनके हृदयमें गर्वरूपी भारी वृक्षका अंकुर जमा (फूटा) है॥ ४ ॥

नोट—१ मिलान कीजिये। '**विकारास्तस्य सद्यो वै भवन्त्यखिलदु:खदाः। नैष्ठिको ब्रह्मचारी त्वं ज्ञानवैराग्यवान् सदा॥ कथं कामविकारो स्याज्जन्मनाविकृतस्सुधीः। इत्याद्युक्तवचो भूरि श्रुत्वा स मुनिसत्तमः॥ विजहास हृदा नत्वा प्रत्युवाच वचो हरिम्। किं प्रभावः स्मरः स्वामिन्कृपा यद्यस्ति ते मयि॥**' (रुद्रसं० २। २। ५२—५४) अर्थात् उसीको (जो त्रिदेवका भक्त नहीं है) ये सब दु:खद विकार होते हैं। आप तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी और सदा ज्ञान-वैराग्यवाले हैं। आपको कामविकार कैसे हो सकता है? आप तो जन्मसे ही विकाररहित और सुन्दर बुद्धिवाले हैं। मुनिने यह सुनकर हृदयसे नमस्कार कर हँसते हुए कहा—स्वामिन्! मुझपर आपकी यदि कृपा है तो काम मेरा क्या कर सकता है?

टिप्पणी—१ नारदने '*कामचरित सब भाषा।*' क्रमसे सब कहे, वैसे ही क्रमसे भगवान्‌ने उनकी प्रशंसा की। (१) नारदजीने प्रथम रम्भादिकी कला कही। उसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा—'*सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाकें॥*' (२) फिर कामका प्रपञ्च कहा, उसके उत्तरमें '*ब्रह्मचरजब्रत-रत मतिधीरा। तुम्हहिं कि करै मनोभव पीरा॥*' कहा गया।

नोट—२ '*सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें। ज्ञान*.....' इस एक ही पंक्तिमें मोह और ज्ञान दोनोंको रखा, क्योंकि ये दोनों राजा हैं। आसुरी सम्पत्तिका राजा मोह है और काम, मद-मान उसके सुभट हैं। और दैवी सम्पत्तिका राजा ज्ञान है और वैराग्य, ब्रह्मचर्य, धैर्य उसके मन्त्री और सुभट हैं। यथा—'*मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार पाकारिजित काम*.....' इति। (विनय०, पद ५८), एवं '*सचिव बिराग बिबेक नरेसू।*.....*भट जम नियम सैल रजधानी*.....॥ *जीति मोह महिपाल दल सहित बिबेक भुआलु॥*' (अ० २३५) दो राजा एक देशमें नहीं रह सकते। अतएव जहाँ ज्ञान रहेगा वहाँ मोह नहीं रह सकता। व्यंग्यार्थ यह है कि आपके हृदयसे अब विवेक भाग गया, इसीसे वहाँ अब मोहने दखल—अधिकार जमाकर निवास कर लिया है। दो राजा एक देशमें नहीं रह सकते, यह शब्दोंकी स्थितिसे कवि दिखा रहे हैं। एक चरणमें मोहको रखा और दूसरेमें ज्ञानको।

टिप्पणी—२ (क) भगवान्‌ने जो पूर्व कहा था कि तुम्हारे स्मरणसे मोहादि मिटते हैं, उसी मोह-मार-मदको अब विस्तारसे कहते हैं। (ख) '*हृदय नहिं जाकें*' का भाव कि ज्ञान और वैराग्य जिसके वचनमात्रमें हैं (हृदयमें नहीं हैं) उसको मोह होता है और जिसके हृदयमें इनका निवास रहता है उसको ये नहीं व्यापते। तात्पर्य कि ज्ञान मोहको जीत लेता है। यथा—'*जीति मोह महिपाल दल सहित बिबेक भुआलु। करत अकंटक राज पुर सुख संपदा सुकालु॥*' (२। २३५) (ग) '*ब्रह्मचरज ब्रत रत*.....' इति। ज्ञानको कहकर तब वैराग्य, ब्रह्मचर्य और धैर्यको कहा; क्योंकि ये ज्ञानके सुभट हैं।

वि० त्रि०—भाव कि हमलोग तो गृहस्थ हैं, मुझे रमा हैं, शिवजीको उमा हैं, ब्रह्मदेवको शारदा हैं, अतएव हमलोग राग और अज्ञानकी सीमाके भीतर हैं। आप परिव्राजक हैं, ब्रह्मचर्यव्रतमें रत हैं, मतिधीर हैं। आप मुनि हैं। दु:खमें जिसका मन उद्विग्न न हो, सुखकी जिसे इच्छा न हो, जिसे राग, भय और क्रोध न हों, ऐसे स्थितप्रज्ञको मुनि कहते हैं—'**दु:खेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥**' (गीता २। ५६)

पं० राजबहादुर लमगोड़ाजी—१ मज़ाकका लुत्फ़ ही यह है कि मज़ाक करनेवालेकी किसी बातसे पता न लगे कि वह मज़ाक़ कर रहा है, नहीं तो हास्यपात्र चौंक जायगा और हास्यका वार पूरा न पड़ेगा। इसीलिये तो भगवान्‌ने रूखा मुँह करके नारदकी तारीफके पुल बाँध दिये।

नारदका अहंकार और भी उभर आया और वे नम्रभावसे (जो यहाँ अहंकारका रूपान्तर ही है) कहने लगे *'कृपा तुम्हारि....।'* २—नाटकीय दृष्टिकोणसे यह अभिनयताके लिये बड़ी सुन्दर हिदायत है और फिल्मकलाकी बड़ी सूक्ष्म प्रगति। [मानसका नारदमोह बड़ा मनोहर एकाकी प्रहसन-काव्य है, अनुपम है। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ (क) *'ब्रह्मचरज ब्रतरत मतिधीरा'* इति। ऊपर (*'सुनु मुनि मोह होइ.....'* में) मोहकी व्याख्या की थी, अब *'मार'* की व्याख्या करते हैं। ब्रह्मचर्य-व्रत-रत और मतिधीर ये दोनों कामको जीतते हैं। आप ब्रह्मचर्यरत और मतिधीर दोनों हैं—इस कथनका तात्पर्य यह हुआ कि जिसके ज्ञान, वैराग्य, ब्रह्मचर्य और धीरबुद्धि हो वह स्मरणके योग्य है, उसके स्मरणसे सब विकार दूर होते हैं, यथा—*'तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं.....।'* (ख) *'नारद कहेउ सहित अभिमाना।.....'* इति। तात्पर्य कि यदि वे अभिमानसहित न कहते तो *'कृपा तुम्हारि सकल भगवाना'* इस बातमें 'सब कुछ बन जाता।' *'अभिमान सहित कहेउ'* का भाव कि कामको जीतनेका अहंकार अपना है कि हमने जीता है और ऊपरसे भगवान्‌की कृपा कहते हैं। (ग) *'कृपा तुम्हारि सकल'* का भाव कि रम्भादि अप्सराओंको देखकर मोह न हुआ; कामका विकार न व्यापा, ज्ञान, वैराग्य, ब्रह्मचर्य और मतिमें धैर्य हैं, सो सब आपकी कृपा है। नारदको अभिमान है इसीसे यह न कहा कि 'यह सब आपकी कृपासे है, हममें कुछ भी नहीं है।' जैसा कि हनुमान्‌जीने कहा है—*'सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥'* (५। ६। ३। ९) अभिमानके साथ न कहते तो उत्तर बिलकुल ठीक था। अभिमानके कारण बात विनय-प्रदर्शनमात्र हो गयी।

टिप्पणी—४ *'करुनानिधि मन दीख बिचारी।.....'* इति। (क) *'करुणानिधि'* कहनेका भाव कि लोग अभिमानीका अभिमान सुनकर क्रोध करते हैं पर भगवान्‌को इनपर करुणा हुई, क्योंकि जानते हैं कि वे अपने दास हैं। (ख) *'उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी'* इति। *'नारद कहेउ सहित अभिमाना'* इसी अभिमानको भगवान् *'गर्व'* कहते हैं। भक्तोंको जैसे ही गर्व हुआ वैसे ही प्रभु उसका नाश करते हैं, जिसमें आगे क्लेश न भोगना पड़े; इसीसे *'करुणानिधि'* कहा। और दुष्टोंको जब गर्व होता है तब उन्हें मारते हैं, यथा—*'जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥ करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी। तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥'* (१। १२१)

नोट—३ यहाँ 'करुणानिधि' विशेषण दिया क्योंकि दया करके भक्तोंका अहित नहीं होने देते, सदा उनका हित ही सोचते और करते हैं। 'अहंकार' भवसागरमें डालनेवाला है।

'उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी॥ बेगि.....' इति—अहंकार संसारका मूल है, इसीसे बारम्बार चौरासी भोगना पड़ता है। अहंकार भारी दुःखदाता है, इसीसे 'गर्बतरु' को 'भारी' कहा। भगवान् करुणानिधान हैं, वे अपने भक्तोंको भव-प्रवाहमें नहीं पड़ने देते। इन चौपाइयोंका भाव भुशुण्डिजीके वचनोंसे खूब स्पष्ट समझमें आ जावेगा। यथा—*'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥ संसृत मूल सूल-प्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥ ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥ जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥ जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर। ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥ तिमि रघुपति निज दासकर हरहिं मान हित लागि।'* (उ० ७४)

ये समस्त दुःख आगे आवेंगे, अभी अंकुर ही फूटा है, शीघ्र जड़से उखड़ सकता है; नहीं तो यदि यह पूरा बढ़ गया—भारी वृक्ष हो गया, तो इसका उखाड़ना कठिन हो जावेगा। इसीसे यहाँ *'अंकुरेउ'*, *'तरु भारी'* और आगे *'बेगि'* कहा है। *'भारी'* क्योंकि सब शोकोंकी जड़ है।

बेगि सो मैं डारिहौं उखारी[१]। पन हमार सेवक हितकारी॥५॥
मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई॥६॥

१-पाठान्तर—'उपारी'।

अर्थ—मैं उसे शीघ्र ही उखाड़ डालूँगा, क्योंकि सेवकका हित करना यह हमारी प्रतिज्ञा है (वा, हमारी प्रतिज्ञा सेवकके लिये हितकर है)॥५॥ अवश्य मैं वही उपाय करूँगा जिससे मुनिका भला और मेरा खेल होगा (मेरी लीला होगी)॥६॥

टिप्पणी—१ ***'बेगि सो मैं डारिहौं उखारी।'....'*** इति। (क) ***'बेगि'*** क्योंकि अभी गर्व-तरु जमा है, उसके उखाड़नेमें कुछ भी परिश्रम नहीं है और नारदके हृदयमें बहुत दुःख अभी उखाड़नेसे न होगा। बड़ा वृक्ष उखाड़नेमें पृथ्वी विदीर्ण हो जाती है। तात्पर्य कि बहुत दिन रह जानेसे उसका अभ्यास हो जाता है फिर वह हृदयसे नहीं जाता। अभी गर्व हृदयमें अंकुरित हुआ है, अभी उसका अभ्यास नहीं पड़ा है। (ख) ***'पन हमार सेवक हितकारी'*** कहनेका भाव कि गर्व अहितकारी है। पुनः, भाव कि 'भगवान् परायी विभूति नहीं देख सके, अपनी बड़ाईकी ईर्ष्यावश होकर अथवा अवगुण देखकर क्रोधसे गर्व दूर करनेपर उद्यत हैं', ऐसा नहीं है किंतु वे सेवकका हित करनेके लिये उसके गर्वका नाश किया करते हैं, यथा—***'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥', 'जेहिं जन पर ममता अति छोहू। जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू॥'*** (१। १३। ६) ***'अपने देखे दोष राम न कबहूँ उर धरे।'*** (दोहावली) [भगवान् परायी विभूति, पराई बाढ़ देख नहीं सकते, इत्यादि संदेहोंके निवारणार्थ ***'करुनानिधि', 'सेवक हितकारी', 'मुनि कर हित मम कौतुक'*** आदि पद दिये हैं। ***'पन हमार'....'*** में स्वभावोक्ति अलंकार है।]

टिप्पणी—२ ***'मुनि कर हित मम कौतुक होई'.... ।'*** इति। (क) ***कौतुक***=लीला। हमारा कौतुक होगा अर्थात् हम अवतार धारण करके लीला करेंगे। पूर्व जो कहा था कि ***'भरद्वाज कौतुक सुनहु'*** उस ***'कौतुक'*** का अर्थ यहाँ खोलते हैं कि 'भगवान्का कौतुक सुनो।' यह बात भगवान् यहाँ अपने मुखसे ही कह रहे हैं। ***'मम कौतुक होई'*** (ख) प्रथम मुनिका हित होगा अर्थात् गर्व दूर होगा; वे क्रोध करके शाप देंगे तब भगवान्की लीला होगी, उसी क्रमसे यहाँ भगवान्के वचन हैं—***'मुनि कर हित'*** तब ***'मम कौतुक।'*** ***कौतुक***=लीला, यथा—***'बहु बिधि मोहि प्रबोधि सुख देई। लगे करन सिसु कौतुक तेई॥'*** (७। ८८) इत्यादि (ग) ***'अवसि उपाय करबि मैं सोई'*** इति। यहाँ भगवान् उपाय करनेको कहते हैं। भक्तका हित तो कृपादृष्टिसे ही कर सकते हैं तब उपाय करनेमें क्या भाव है? इस कथनमें तात्पर्य यह है कि कृपाकोरसे अभिमान दूर कर सकते हैं इसमें संदेह नहीं पर उसमें अवतारका हेतु न उत्पन्न होता। (और प्रभुकी इच्छा लीलाकी है) अतः ***'उपाय करबि'*** कहा। उपायमें अवतारका हेतु होगा। लीला हेतु उपाय करना कहा गया। (घ) ***'करुनानिधि मन दीख बिचारी'*** से यहाँतक मनका विचार है।

श्रीमान् लमगोड़ाजी—१ अभिमानका यह नम्रतारूप रूपान्तर कितना विचित्र है।

२ कविने किस सुन्दरतासे भगवान्के विचारोंको व्यक्त किया है जिसे वे लोग विशेषतः समझ सकेंगे जिन्होंने शेक्सपियरके चरित्रोंकी स्वगत वार्ताओंका आनन्द उठाया है। मजा यह है कि प्रहसनके द्रष्टाओंपर सारा रहस्य खुल जाता है परंतु हास्यपात्रको पता नहीं चलता। भगवान् वस्तुतः बड़े ही कुशल नैतिक चिकित्सकके रूपमें दिखायी पड़ते हैं और अहंकारको जड़से उखाड़नेकी प्रतिज्ञा करते हैं, हास्य प्रयोग प्रारम्भ करते हैं। वाकई हास्यरसका उचित प्रयोग यही है कि हास्यपात्रका हित हो और साथ ही हम सबका ***'कौतुक'*** भी हो जाय पर घृणाकी मात्रा न बढ़ने पावे।

तब नारद हरिपद सिर नाई। चले हृदय अहमिति अधिकाई॥७॥
श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी॥८॥

दो०—बिरचेउ मग महुँ नगर तेहि सतजोजन बिस्तार।
श्रीनिवास-पुर तें अधिक रचना बिबिध प्रकार॥१२९॥

अर्थ—तब नारदजी भगवान्के चरणोंमें सिर नवाकर चले। उनके हृदयमें घमण्ड और भी अधिक हो गया॥७॥ लक्ष्मीपति भगवान्ने अपनी मायाको प्रेरित किया। उसकी कठिन करनी सुनो॥८॥ उस मायाने

मार्गमें चार सौ कोसके लंबे-चौड़े नगरकी विशेष रचना की। जिसकी अनेक प्रकारकी रचना वैकुण्ठपुरसे भी बढ़-चढ़कर थी॥ १२९॥

टिप्पणी—१ *'तब नारद हरिपद सिर नाई।……'* इति। (क) *'तब'* अर्थात् जब नारदके कामचरित कह चुकनेपर भगवान् उनकी प्रशंसा कर चुके तब नारद वहाँसे चल दिये। तात्पर्य कि बस इतनेसे ही तो प्रयोजन था कि कामचरित सुनावें और अपनी बड़ाई सुनें। (ख) *'अहमिति अधिकाई।'* भाव कि जब शिवजीके पास गये तब अहंकार अधिक न हुआ, शिवजीने प्रशंसा न की और यहाँ भगवान्‌ने प्रशंसा की—*'तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं मोह मार मद मान'*; इसीसे वहाँ कहा था कि *'जिता काम अहमिति मन माहीं'* और यहाँ कहते हैं कि *'चले हृदय अहमिति अधिकाई।'*

नोट—१ शिवजीने इनका आदर-सत्कार न किया। प्रत्युत इन्हें उपदेश देने लगे थे और भगवान्‌ने इनका आदर-सत्कार किया। उठकर मिलना आदर जनाता है, यथा—*'आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसन देई॥'* ऐसा ही भगवान्‌ने किया। यही कारण है कि शिवजीको चलते समय भी उन्होंने प्रणाम न किया पर भगवान्‌को जाते समय प्रणाम किया। यह भी अहंकारहीका सूचक है। [जो अहंकारीकी प्रशंसा करता है, वह उसको प्रिय लगता है और जो प्रशंसा न करके उलटी सुनाता है, विरुद्ध कहता है वह उसको मत्सरी और द्वेषी लगता है। (प० प० प्र०)]

पहले कहा था कि *'जिता काम अहमिति मन माहीं'* और अब बताते हैं कि *'चले हृदय अहमिति अधिकाई'* अर्थात् पहले अहंकारका बीज पड़ा था और अब अंकुर हो वह बढ़ चला। प्रथम शिवजीने रोका था, इससे ज्यों-का-त्यों रह गया था, अब प्रशंसारूपी जल पाकर बढ़ा। अब वे सोचते हैं कि शिवजीने सत्य ही ईर्षावश रोका था, भगवान् तो सुनकर प्रसन्न हुए हैं, न कि रुष्ट।

टिप्पणी—२ *'श्रीपति निज माया तब प्रेरी।……'* इति। (क) यहाँ *'श्रीपति'* और *'निज माया'* दोनोंको एक साथ लिखने तथा निज मायाको प्रेरित करना कहनेसे स्पष्ट किया कि 'श्रीजी' से 'माया' पृथक् वस्तु है कि जिसको प्रेरित किया। यथा—*'नहिं तहँ रमा न राजकुमारी'*। (ख) आगे माया बहुत चमत्कार करेगी, इसीसे उसे *'श्रीपति'* की माया कहा। (ग) *'प्रेरी'* का भाव कि यहाँ उसने नारदको मोहकर कामचरित कहलाये, अब आगे मोहनेके लिये उसे भेजा। पुनः भाव कि माया अपनी ओरसे नहीं गयी। पुनः; *'निज माया'* का भाव यह कि भगवत्-दासोंको औरोंकी माया वशमें नहीं कर सकती, जैसे इन्द्रकी माया नारदको न व्यापी। भक्त भगवान्‌की ही मायाके वशमें होते हैं अतएव *'निज माया'* कहा। 'जहाँ-जहाँ मायाकी प्रेरणाका वर्णन है तहाँ-तहाँ मायाकी प्रशंसा है।', यथा—*'बहुरि राम मायहिं सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा॥'* इत्यादि। पुनः भाव कि कामकी मायासे मोहित न हुए अतः निज मायाको भेजा। (घ) *'कठिन करनी'* कहा क्योंकि जो दुर्दशा की उसमें नारदजीको प्राणान्त क्लेश हुआ—*'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'* और इसको किंचित् दया न आयी।

टिप्पणी—३ *'बिरचेउ मग महुँ नगर तेहि'''* इति। (क) 'रचना' काम विद्या मायाका है। यथा—*'एक रचै जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥'* (३। १५) हरि-सेवकको अविद्या माया नहीं व्यापती, उसे विद्या ही व्यापती है। यथा—*'हरि सेवकहिं न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापै तेहि बिद्या॥'* (७। ७९) यहाँ भी माया प्रभु-प्रेरित है, यथा—*'श्रीपति निज माया तब प्रेरी।'* अपनी ओरसे नहीं व्यापती। (इससे जनाया कि यह 'विद्या माया' है।) [(ख)*'मग महुँ'* कहकर जनाया कि वह नारदसे पहले ही आगे पहुँच गयी। मार्गमें नगर बनानेका भाव कि जिसमें वह इनके देखनेमें अवश्य आवे और वे नगरमें होते हुए जायँ। (ग) *'नगर'* मुनिको वन, काम, कोकिल आदिकी शोभा मोहित न कर सकी थी; इसलिये अबकी नगर रचा जिसकी शोभा श्रीनिवासपुरसे अधिक थी जिसमें वे मोहित हो जायँ। जैसे श्रीअयोध्याजीकी शोभा देखकर वैराग्य भूल जाता था, यथा—*'नारदादि सनकादि मुनीसा।''देखि नगरु बिराग बिसरावहिं॥'* (७। २७) वैसे ही इसे देखकर इनका वैराग्य जाता रहे। (मा० पी० प्र० सं०)]

(ग) *'सतजोजन बिस्तार'* इति। मार्गमें इतने विस्तारका नगर बनानेमें भाव यह है कि एक तो वैकुण्ठ सौ योजनका है। दूसरे, नारदजी विरक्त महात्मा हैं। विरक्त संत (जब प्रसाद पाये हुए होते हैं तब) प्राय: बस्तीके बाहर ही विचरते हैं। अतएव मायाने इतना बड़ा नगर बनाया कि नगरके भीतर ही होकर जाना पड़े, इधर-उधर कहींसे न निकला जा सके और कहींसे उनको रास्ता ही न मिले। कहाँतक बचायेंगे।

वि० त्रि०—चित्के (ब्रह्मके) अति दुर्घटस्वातन्त्र्यको माया कहते हैं। लोकमें योगी, मन्त्रशास्त्री और ऐन्द्रजालिक थोड़ा-सा आच्छादित स्वातन्त्र्य पाकर युक्तिसे दुर्घट घटना घटा देते हैं तब श्रीपतिकी मायाके लिये क्या कहना है! भासनकालमें भी स्वरूपसे अतिवर्तन उसकी दुर्घटना है।

नोट—२ यह नगर कहाँ रचा गया? इसमें मतभेद है। पं० रामकुमारजीका मत है कि यह नगर जम्बूद्वीपमें रचा गया। नारदजी क्षीरसागरसे अपने घर ब्रह्मलोक नहीं गये। जैसे कि पूर्व लिखा गया है कि *'तब बिरंचि के लोक सिधाए।'* (१२८। २) अर्थात् वहाँ काम-चरित कहने गये थे। वहाँसे भगवान्‌को सुनाने आये। अब यहाँसे ब्रह्मलोक शीघ्र जानेका कोई प्रयोजन रह ही न गया। अतएव विचरनेके लिये जम्बूद्वीप गये। और किसीका मत है कि काश्मीरान्तर्गत जो उसकी राजधानी 'श्रीनगर' है वही यह मायानगरी है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि टेहरी राज्यमें जो प्राचीन श्रीनगर था उसे तो गङ्गाजी बहा ले गयीं, वहाँ अब रमापति-मन्दिर ही रह गया है। उसीके संनिकट अब दूसरा श्रीनगर बसा है।

टिप्पणी—४*'श्रीनिवास-पुर तें अधिक······'* इति। (क) लक्ष्मीपति भगवान्‌के पुरसे अधिक विविध प्रकारकी रचना है क्योंकि (१) श्रीनिवासपुर असल है और यह नकल है, असलसे नकलमें चमत्कार अधिक होता है। (२) क्षीरसागर वैकुण्ठ तो मुनि जब-तब जाया ही करते थे। वहाँका वैभव-विलास अनेक बारका देखा है, यदि उससे बढ़कर न बनाती तो नारदका मन उधर आकर्षित न होता। (३) नारदका वैराग्य कुछ साधारण वैराग्य नहीं है जो डिग जाय, अतएव अधिक रचना की। [श्रीनिवासपुर कहकर जनाया कि यह इतना सुन्दर है कि भगवान् लक्ष्मीजीके सम्बन्धसे यहीं अपनी ससुरालमें ही रहने लगे। लक्ष्मीजीकी उत्पत्ति क्षीरसागरसे है, अत: वह आपकी ससुराल है।—(वै०)] (४) नारद सात्त्विकी हैं; अतएव इनको मोहित करनेके लिये सात्त्विक पुरीकी नकल बनायी। (ख) *'श्रीनिवास-पुर'* कहकर वैकुण्ठपुरी सूचित किया क्योंकि श्रीनिवास जहाँ (क्षीरसागरमें) बसते हैं वहाँ 'पुर' नहीं है। वैकुण्ठका वैभव सबसे अधिक है, यथा—*'जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना॥'*

नोट—३ पंजाबीजी यहाँ अतिशयोक्ति और वीर कविजी व्यतिरेक अलंकार मानते हैं। श्रीनिवासपुर उपमानसे 'नगर' उपमेयमें उत्कृष्टता वर्णन की गयी है।

नोट—४ मिलान कीजिये—**'इत्युक्त्वा हरिमानम्य ययौ यादृच्छिको मुनि:।'** (रुद्रसं० २। २। ५५)····· '····**चकाराशु मायां मायाविशारद:॥ मुनिमार्गस्य मध्ये तु विरेचे नगरं महत्। शतयोजनविस्तारमद्भुतं सुमनोहरम्॥'** (४-५) **स्वलोकादधिकं रम्यं नानावस्तुविराजितम्।'** अर्थात् ऐसा कहकर भगवान्‌को प्रणाम करके मुनि यथेच्छ स्थानको चल दिये। भगवान्‌ने मायाको प्रेरित किया जिसने मुनिके मार्गमें बड़े नगरकी रचना की जो सौ योजनके विस्तारका और अद्भुत तथा मनोहर था। अपने लोकसे भी अधिक सुन्दर अनेक वस्तुओंसे सुशोभित था। शिवपु० में शिवजीकी इच्छासे भगवान्‌का मायाको प्रेरित करना कहा है, जिससे शिवजीके चरितमें लाञ्छन-सा लगता देख पड़ता है। इस तरह मानसका मत उत्कृष्ट है।

बसहिं नगर सुंदर नर नारी। जनु बहु मनसिज रति तनु धारी॥ १॥
तेहि पुर बसै सीलनिधि राजा। अगनित हय गय सेन समाजा॥ २॥
सत सुरेस सम बिभव बिलासा। रूप तेज बल नीति निवासा॥ ३॥

बिस्वमोहनी तासु कुमारी। श्री बिमोह जिसु* रूपु निहारी॥४॥
सोइ हरिमाया सब गुन खानी। सोभा तासु कि जाइ बखानी॥५॥

शब्दार्थ—**मनसिज**=मनसे उत्पन्न, कामदेव। **हय**=घोड़ा, अश्व। **गय**=गज, हाथी। **बिभव**=ऐश्वर्य। **बिलास**=सुखभोग। **जिसु**=जिसका। यथा—*'सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू।'*

अर्थ—उस सुन्दर नगरमें सुन्दर स्त्री-पुरुष बसते थे, मानो बहुत-से कामदेव और रति (कामदेवकी स्त्री) ही शरीर धारण किये हुए हों॥१॥ उस पुरमें शीलनिधि नामक राजा रहता था, जिसके अगणित (बेशुमार, जिसकी गणना न हो सके) घोड़े, हाथी, सेना और समाज था॥२॥ उसका वैभव-विलास सौ इन्द्रोंके समान था। वह रूप, तेज, बल और नीतिका (मानो) निवास-स्थान ही था॥३॥ उसकी लड़कीका नाम विश्वमोहिनी था, जिसके रूपको देखकर लक्ष्मीजी भी मोहित हो जायँ॥४॥ यह वही सब गुणोंकी खानि हरिकी माया है। (तब भला) उसकी शोभा कब (एवं क्या) वर्णन की जा सकती है? (कदापि नहीं)॥५॥

टिप्पणी—१ *'बसहिं नगर सुंदर नर नारी'* इति। (क) यहाँ *'सुन्दर'* दीपदेहरीन्यायसे नगर और नर-नारी दोनोंका विशेषण है। नगर ही इतना सुन्दर है कि काम अपनी स्त्रीसहित वहाँ आकर बस जाय तो आश्चर्य नहीं। उनके निवासके योग्य है, इसीसे स्त्री-पुरुषोंको रति और कामके समान कहा। पुनः भाव कि नारदको कामके वश करना है इसीसे मायाने वहाँके स्त्री-पुरुषोंको रति और कामके समान सुन्दर बनाया है। (ख) *'जनु बहु मनसिज रति'''* इति। *'बहु'* कहकर जनाया कि प्रत्येक नर-नारी एक-एक काम और रतिके समान हैं, इसीसे जान पड़ता है कि बहुत-से काम और रति ही हैं। ☞ कामदेवने नारदको मोहनेके लिये वन बनाया, वसंत बनाया, अप्सराएँ बनायीं तब भी नारदको न मोह सका था; इसीसे मायाने नगर बनाया। वहाँ एक ही काम था, यहाँ रतिसहित अनन्त काम मोहित करनेके लिये विराजमान हैं। अर्थात् कामदेव-ही-कामदेव रतियोंसहित बसाये गये हैं कि अब तो मोहित होंगे पर इनका वैराग्य ऐसा तीव्र है कि इतनेपर भी वे मोहित न होंगे। कामने वनकी 'श्री' दिखायी थी, मायाने नगरकी 'श्री' दिखायी। वहाँ नारद रम्भादिको देखकर न मोहे थे, इसीसे माया स्वयं विश्वमोहिनी बनी। कामके बनाये हुए प्रपञ्च नारदजीके देखे हुए थे और मायाकृत प्रपञ्च अपूर्व हैं।

नोट—१ यहाँ अतिशय सौन्दर्य उत्प्रेक्षाका विषय है। उसे न कहकर यह उत्प्रेक्षा की गयी कि मानो अनेक कामदेव और रति ही हैं। अतएव यहाँ अनुक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा' है। *'रूप तेज बल नीति निवासा'* में सहोक्ति अलंकार है। (वीरकवि)

नोट—२ व्याकरण—*'बसइ'* एकवचन, *'बसहिं'* बहुवचन। यथा—रहइ रहहिं, कहइ कहहिं, सेवइ सेवहिं, बरइ बरहिं, पावइ पावहिं, लगावइ लगावहिं, मुसुकाइ मुसुकाहिं, उकसहिं, अकुलाहीं। इत्यादि। निहारी, निहारि=देखकर। पूर्वकालिक क्रिया। यथा—आनी, आनि, जानि, फूली, बिलोकी, बिरचि, सुनि, बिचारी, (कर) जोरि, बखानी, धीर, कहि इत्यादि। (श्रीरूपकलाजी)

टिप्पणी—२ (क) *'तेहि पुर बसै सीलनिधि राजा'* अर्थात् यह मायानगर राजा शीलनिधिकी राजधानी है। [मोहका कारण शील है, यह गुण अधिक मोहक होता है। अतएव जो शीलका खजाना, शीलका समुद्र है उसीको इसने राजा बनाया। वा, मूर्तिमान् शीलसमुद्र ही राजा है।] (ख) *'अगनित हय'''* इति। नगर, प्रजा और राजाको कहकर अब राजाका ऐश्वर्य कहते हैं, फिर गुण कहेंगे। **समाज**=रथ आदि सामग्री; सब सामान। हाथी, घोड़े, सोना और समाज कहकर चतुरंगिणी सेनाका होना जनाया। (ग) प्रजाको प्रथम वर्णन करके तब राजाको कहनेका भाव यह है कि नारदजीने जैसे-जैसे नगरमें प्रवेश किया वैसे-ही-वैसे वक्ता भी वर्णन करते जाते हैं। प्रथम उन्होंने प्रजाको देखा, तब राजाके स्थानमें पहुँचे। [*'बसै'* का

* जेहि—ना० प्र०।

भाव कि नगर तो अभी बना है, परंतु शीलनिधि राजा उसमें कई पीढ़ीसे बसते थे। घोड़ा-हाथी-सेना सब अनेक देशके भिन्न-भिन्न कालोंमें आये हैं तथा भर्ती हुए हैं। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—३ *'सत सुरेस सम बिभव बिलासा।'''* इति। (क) नगरकी रचनाको भगवान्‌की पुरीसे अधिक कहा था, यथा—*'श्रीनिवासपुर तें अधिक रचना बिबिध प्रकार।'* तो ऐश्वर्य भी भगवान्‌के ऐश्वर्यसे अधिक कहना चाहिये था; सो न कहकर *'सत सुरेस सम'* कहा, क्योंकि भगवान्‌के ऐश्वर्यसे अधिककी कौन कहे उसके समान भी ऐश्वर्य किसीका हो नहीं सकता तब कहते कैसे? इसीसे शत इन्द्रोंके ऐश्वर्यसे अधिक कहा। (ख) नगर सौ योजनके विस्तारका रचा, इसीसे सौ इन्द्रोंका वैभव-विलास बनाया। पुनः, *'सत सुरेस सम'* कहकर राजाको सौ इन्द्रोंके समान सुकृती जनाया। सौ अश्वमेध यज्ञ करनेसे इन्द्रपद प्राप्त होता है। पुनः भाव कि एक इन्द्रका वैभव-विलास उनको न मोहित कर सका, इसलिये यहाँ सौ इन्द्रोंका वैभव रचा। [इन्द्रका वैभव-विलास सबसे अधिक है, इसीसे जहाँ वैभवका उत्कर्ष दिखाना होता है वहाँ इसीकी उपमा दी जाती है। यथा—*'भूपति भवन सुभाय सुहावा। सुरपति सदनु न पटतर पावा॥'* (२। ९०) *'अमरावति जसि सक्रनिवासा।'* (१। १७८) *'सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास।'* (६। १०) *श्रुति पथ पालक धरम धुरंधर। गुनातीत अरु भोग पुरंदर।'* (७। २४) *'मघवा से महीप बिषय सुख साने'* (क० ७। ४३), *'राज सुरेस पचासक को'''*।' (क० ७। ४५) *'भोगेन मघवानिव'* (मूलरामायण)। **'सत'**=सैकड़ों।] (ग) *'रूप तेज बल नीति निवासा'* यह राजाके गुण हैं। अर्थात् परम रूपवान्, परम तेजस्वी, परम बलवान् और परम नीतिज्ञ हैं।

टिप्पणी—४ *'बिश्वमोहिनी तासु कुमारी।'''* इति (क) शीलनिधिकी कन्या 'विश्वमोहिनी' हुई, तात्पर्य कि विश्वको मोहित करनेका हेतु शील है। (ख) *'श्री बिमोह'''* का भाव कि जिन श्रीजीको देखकर विश्व मोहित हो जाता है वे 'श्रीजी' भी विश्वमोहिनीको देखकर मोहित हो जाती हैं। स्त्रीको देखकर स्त्री नहीं मोहित होती, यथा—*'मोह न नारि नारि के रूपा।'* पर विश्वमोहिनीका सौन्दर्य ऐसा है कि उसे देखकर 'श्रीजी' भी मोहित हो जाती हैं तब औरोंकी क्या चली! नारद क्योंकर न मोहित होंगे। इस कथनसे जनाया कि यह कन्या शोभाकी अवधि है। यहाँ 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है।

नोट—३ (शिवपुराणमें कन्याका नाम 'श्रीमती' है। यथा—**'अथ राजा स्वतनयां नामतः श्रीमतीं वराम्।'** (२। ३। ११) नारदजीने भगवान्‌से कहा है कि शीलनिधिकी कन्या श्रीमती स्वयंवरकी इच्छा कर रही है। वह जगत्-मोहिनी विख्यात है—**'जगन्मोहिन्यभिख्याता।'** (२। ३। २६) इस तरह विश्वमोहिनीका अर्थ विश्वको मोहित करनेवाली भी है। अद्भुतरामायणमें भी एक अवतारका नारदशापसे होना वर्णित है। उसमें भी कन्याका नाम श्रीमती है। कन्याके बापका नाम अम्बरीष है। (आगे प्रसंग आनेपर संक्षिप्त कथा इसकी भी दी जायगी।)

नोट—४ मिलानके श्लोक, यथा—**'नरनारीविहाराढ्यं चतुर्वर्णाकुलं परम्॥ ६॥ तत्र राजा शीलनिधिर्नामैश्वर्यसमन्वितः।'** (रुद्रसं० २। ३) अर्थात् वह नगर स्त्री-पुरुषोंके विहार करनेयोग्य था, जिसमें चारों वर्ण निवास करते थे। सम्पूर्ण ऐश्वर्यसे युक्त शीलनिधि राजा राज्य करता था।

टिप्पणी—५ *'सोइ हरिमाया'''* इति। (क) यहाँ बताया कि वह कन्या कौन है। वह हरिमाया ही है। (नगर, राजा, प्रजा इत्यादिकी रचना कर चुकनेपर भी संदेह ही रह गया कि कदाचित् नारदजी इतनेसे भी मोहित न हों, इस विचारसे वह हरिमाया स्वयं विश्वमोहिनीरूप धारणकर राजकुमारी बनकर उपस्थित हुई। जगत्-भरको मोहित करनेका सामर्थ्य रखती है, एक नारद किस गिनतीमें हैं)। (ख) *'सब गुनखानी'* इति। अर्थात् सब गुणोंकी खानि है, यह आगे स्वयं कविने स्पष्ट लिखा है, यथा—*'लच्छन तासु बिलोकि भुलाने।''''जो एहि बरै अमर सोइ होई।'* इत्यादि। अर्थात् जो इसको बरे वह अमर, समरविजयी, चराचरसेव्य हो। यह तो माधुर्यमें गुणकी खानि कहा और ऐश्वर्यमें तो तीनों गुणों-(सत्त्व, रज, तम-) की खानि है, अर्थात् त्रिगुणात्मिका माया है। यथा—*'एक रचइ जग गुन बस जाके।'* (३। १५) (वनमें रम्भादिके गुणोंसे

मोहित न हुए थे, अतः सब गुणोंकी खानि राजकुमारी बनी) (ग) *'सोभा तासु कि जाइ बखानी।'* अर्थात् उसकी शोभा अनिर्वचनीय है, बखानी नहीं जा सकती। यह हरिकी माया है, इसीसे इसका रूप न वर्णन किया। इसकी ओर देखनेसे अनहित होता है, यह समझकर वर्णन न किया। यथा—*'होइ बुद्धि जो परम सयानी। तिन तन चितव न अनहित जानी॥'* (७। ११८) [यह तीनों गुणोंको उत्पन्न करनेवाली विद्यामाया है। भगवान् दासोंपर अविद्या मायाको प्रेरित नहीं करते क्योंकि वह तो अहित करनेवाली है। यथा—*'हरि सेवकहिं न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित तेहि ब्यापहि बिद्या॥'* (७। ७९) एक तो शोभा 'अतुलित' है, यह सौन्दर्यकी खानि ही है, दूसरे यह भगवान्‌को ही ब्याहेगी, इससे बखानी कैसे जा सके? (मा० पी० प्र० सं०)] (घ) *'सोइ हरिमाया'''* कहकर जनाया कि अन्तमें यह हरिहीको बरेगी।

वि० त्रि०—नगर तो अभी बना पर राजाका ब्याह हुए बहुत दिन हो गये, ब्याहसे बेटी भी थी जो ब्याहयोग्य हो गयी थी, उसके स्वयंवरका समाचार सुनकर देश-देशके राजा कई दिनोंसे आकर ठहरे थे। यह हरिमायाकी कठिन करनी है, किसी भाँति बुद्धि काम नहीं करती। देशकालका कोई नियम ही न रह गया।

करै स्वयंबर सो नृपबाला। आए तहँ अगनित महिपाला॥ ६॥
मुनि कौतुकी नगर तेहि गएऊ। पुर बासिन्ह सब पूछत भएऊ॥ ७॥
सुनि सब चरित भूपगृह आए। करि पूजा नृप मुनि बैठाए॥ ८॥
दो०—आनि देखाई नारदहि भूपति राजकुमारि।
कहहु नाथ गुन दोष सब एहि के हृदय बिचारि॥ १३०॥

शब्दार्थ—**बाला**=बालिका, कन्या। **कौतुकी**=कौतुक (कुतूहल) जिनको प्रिय है।

अर्थ—वही राजकुमारी (अपना) स्वयंवर कर रही है। (अतएव) अगणित राजा वहाँ आये॥ ६॥ कौतुकी मुनि उस (कौतुकी) नगरमें गये और पुरवासियोंसे सब हाल पूछने लगे॥ ७॥ सब समाचार सुनकर वे राजमहलमें आये। राजाने मुनिकी पूजा करके उनको बिठाया॥ ८॥ राजाने राजकुमारीको लाकर नारदजीको दिखाया (और बोले कि) हे नाथ! इसके सम्पूर्ण गुण-दोषोंको हृदयमें विचारकर कहिये॥ १३०॥

नोट—१ शिव पु० में मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**प्रदानसमयं प्राप्ता वरमन्वेषती शुभम्। सा स्वयंवरसम्प्राप्ता सर्वलक्षणलक्षिता॥** '**चतुर्दिग्भ्यः समायातैस्संयुतं नृपनन्दनैः॥**'''**एतादृशं पुरं दृष्ट्वा मोहं प्राप्तोऽथ नारदः। कौतुकी तन्नृपद्वारं जगाम मदनैधितः॥ आगतं मुनिवर्यं तं दृष्ट्वा शीलनिधिर्नृपः। उपवेश्यार्चयाञ्चक्रे रत्नसिंहासने वरे॥**'''**दुहितेयं मम मुने**'''॥ **अस्या भाग्यं वद मुने सर्वजातकमादरात्। कीदृशं तनयेयं मे वरमाप्स्यति तद्वद॥**' (रुद्र०२। ३। ८—१५) अर्थात् इसके विवाहका समय आ गया। श्रेष्ठ वरकी खोजमें यह स्वयंवरमें प्राप्त हुई है। चारों ओरसे राजा लोग बड़े सज-धजसे आये हुए थे। ऐसे नगरको देखकर नारद मोहको प्राप्त हुए और कामदेवसे बढ़े-चढ़े हुए कौतुकी नारद राजाके द्वारपर पहुँचे। उनको आया हुआ देखकर राजाने उनको श्रेष्ठ रत्नसिंहासनपर बिठाया और पूजा की। राजाने श्रीमती नामकी अपनी कन्याको लाकर नारदजीके चरणोंपर डाल दिया। (यथा—'**अथ राजा स्वतनयां नामतश्श्रीमतीं वराम्। समानीय नारदस्य पादयोस्समपातयत्॥ ११॥**') नारदके पूछनेपर कि यह देवतुल्य कन्या कौन है? राजाने बताया कि यह मेरी कन्या है और कहा कि आप इसका भाग्य कहिये, यह कैसा वर पावेगी। मानसके नारद विशेष वैराग्यवान् हैं। इनको न तो नगर ही मोहित कर सका और न नृपका ऐश्वर्य।

टिप्पणी—१ (क) *'करै स्वयंबर सो नृपबाला।'''* इति। ☞क्षीरसागरसे नारद चले, इतनी ही देरमें यह सब तैयारी मायाने कर ली। जयमाल डालने, स्वयंवर करनेके योग्य अवस्था बनाकर स्वयं वहाँ उपस्थित

हुई। स्वयंवर करती है अर्थात् अपने-आप ही वरको अंगीकार करती है इसीसे अगणित राजा आये हैं। (ख) *'आए तहँ अगनित महिपाला।'* —राजा पुरके बाहर उतरे हैं, यथा—*'पुर बाहेर सर सरित समीपा। उतरे जहँ तहँ बिपुल महीपा॥'* (१। २१४) (ग) हरिकी माया है, सब गुणोंकी खानि है और स्वयंवर कर रही है, इससे जनाया कि वह हरिहीको *'वर'* करेगी, उन्हींको ब्याहेगी। (घ) ☞मायाने स्वयंवर रचा जिसमें धर्मसे कन्याकी प्राप्ति समझकर नारद इच्छा करें। अधर्मसे इच्छा और उद्योग न करेंगे जैसे रम्भादिको देखकर इच्छा न की। ('स्वयंवर' धर्म-रीतिका विवाह है, अतएव स्वयंवर रचा। यदि किसीके साथ विवाहकी सगाई हो गयी होती तो नारदको मोहित होना अयोग्य होता, वे उसको देखते ही क्यों? उसपर उनका वश ही नहीं, यह समझ वे चुप रह जाते। अतएव स्वयंवर किया। अपनी इच्छासे वर करेगी; इसीसे मुनि भगवान्‌से सुन्दर रूप माँगेंगे जिससे वह इन्हींसे विवाह कर ले)।

टिप्पणी—२ *'मुनि कौतुकी नगर तेहि गएऊ।'''* इति। (क) कौतुकीका भाव कि कुतूहल देखनेका उनका स्वभाव है, यही इनका दिल-बहलाव है, अतः कुतूहल देखने गये। कौतुकी स्वभाव न होता तो नगरके भीतर जानेका कौन प्रयोजन था। नगरमें बड़ा भारी वैभव देख पड़ा, पुर अति सुन्दर बना है, चारों ओर राजा लोग उतरे हुए हैं, इसीसे देखनेकी इच्छा हुई। ☞यहाँ मुनि कौतुकी हैं और नगर भी 'कौतुकी' अर्थात् मायाका रचा हुआ कौतुक है। मुनिको कौतुकी जानकर यह कौतुक दिखाया। (ख) *'पुरबासिन्ह सब पूछत भएऊ।'* पुरवासियोंसे सब वृत्तान्त पूछा। उन्होंने सब बताया, यह बात आगेके *'सुनि सब चरित'* से जानी गयी और यह भी बताया कि आज शीलनिधि राजाकी कन्याका स्वयंवर है, उसके समान सुन्दर कन्या त्रैलोक्यमें नहीं है। *'सब'* पूछा अर्थात् पूछा कि यह भीड़ कैसी है, किसका राज्य है इत्यादि।

टिप्पणी—३ (क) *'सुनि सब चरित भूपगृह आए।'''* इति। पुरवासियोंसे *'सब'* पूछा, अतः उन्होंने *'सब'* बताया, इसीसे कहते हैं कि *'सुनि सब चरित।' 'भूपगृह आए';* किस लिये? कन्याके लक्षण देखनेके लिये, (यह इनका स्वभाव है), यथा—*'नारद समाचार सब पाए। कौतुक ही गिरिगेह सिधाए॥'* (१। ६६) (ख) *'करि पूजा नृप मुनि बैठाए'* अर्थात् पाद्य, अर्घ्य करके आसन दिया, यथा—*'सैलराज बड़ आदर कीन्हा। पद पखारि बर आसनु दीन्हा॥ नारि सहित मुनिपद सिरु नावा। चरन सलिल सबु भवन सिंचावा॥'* (१। ६६) इत्यादि।

टिप्पणी—४ (क) *'आनि देखाई नारदहि भूपति राजकुमारि। कहहु नाथ'''''* इति। ☞हिमाचलने पार्वतीजीको बुलाकर प्रणाम कराया, पीछे दोष-गुण पूछे, यथा—*'निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना। सुता बोलि मेली मुनि चरना॥'* (१। ६६) और यहाँ शीलनिधिने राजकुमारीको लाकर दिखाया पर प्रणाम न कराया और न स्वयं कन्याने किया। यह कर्तव्य साभिप्राय है। इसमें तात्पर्य यह है कि प्रणाम करना भक्ति है, जिसकी भक्ति की जाय, जिसको प्रणाम किया जाय, उसकी फिर दुर्दशा करते नहीं बनती, ऐसा करना अयोग्य होगा। (और कन्याके हाथों वा उसके द्वारा मुनिकी दुर्दशा होनी है) इसीसे माया नारदके चरणोंपर नहीं पड़ी। शीलनिधि राजा भी तो मायाका ही बनाया हुआ है, अतः उसने प्रणाम न कराया। (ख) ☞हिमाचलने प्रथम दोष पूछा तब गुण—*'कहहु सुता के दोष गुन मुनिबर हृदय बिचारि।'* (१। ६६) और शीलनिधिने प्रथम गुण पूछे तब दोष—*'कहहु नाथ गुन दोष सब'''''।'* इस भेदका तात्पर्य यह है कि पार्वतीजीके दोष गुण ही हैं (अर्थात् जिनको प्रथम दोष बताया गया था, वे अन्तमें गुण ही सिद्ध हुए) यथा—*'दोषउ गुन सम कह सबु कोई।'* (१। ६९) और मायाके गुण सब दोष ही हैं जो नारदके ठगनेके लिये ही धारण किये गये हैं (मायाके गुण अन्तमें दोषरूप ही सिद्ध होते हैं। उसमें सार वस्तु कुछ भी नहीं है। नारदजी जो गुण कन्यामें देखेंगे वे दोष ही हैं) यथा—*'सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक। गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥'* (७। ४१)

प० प० प्र०—शैलराजने *'दोष गुन'* पूछे तथापि नारदने पहले गुण ही देखे और पश्चात्

'दुइ चारी' दोष कहने लगे पर कहे ग्यारह। जितने गुण कहे उतने ही दोष कहे। इससे सिद्ध हुआ कि पार्वतीजी (महेशकी माया) मुनिवरको गुणदोषसाम्यमयी जान पड़ी। पर *'हरिमाया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहगेस'* ऐसी है और वह **'अजा दोषगृभीतगुणा'** है, आनन्दादिको ढकनेके लिये उसने गुणोंका स्वाँग लिया है, गुणोंमें दोषोंको छिपाये है। अतः नारदजी दोषोंकी तरफ देखनेमें इस समय असमर्थ हैं, क्योंकि मायामोहित हैं। वेदोंने भी श्रीमद्भागवतमें कहा है **'जय जय जह्यजामजितदोषगृभीतगुणाम्।'**(१०। ८७। १४) अर्थात् हे अजित! आपकी जय हो, जय हो। जैसे व्यभिचारिणी दूसरे लोगोंको ठगनेके लिये गुण धारण करती है, वैसे ही आनन्द आदिका आवरण करनेके लिये गुण धारण करनेवाली चराचरकी अविद्याका नाश कीजिये। पार्वतीजीने शिवजीके गुणोंको दोषरूपमें धारण किये थे, इसलिये दोष-गुण-क्रम वहाँ रखा है।

नोट—३ हिमाचलने *'मुनिबर'* सम्बोधन किया और शीलनिधिने *'नाथ'* कहकर पूछा। कारण कि नारद राजासे कपट करेंगे, हृदयमें कुछ होगा बाहर मुँहसे कुछ कहेंगे। इससे यहाँ मायाने *'मुनिबर'* नहीं कहलवाया।

☞पूर्व मायाने जितना कुछ बनाया है वह सब क्रमसे चरितार्थ किया है।

	चरितार्थ—
बिरचेउ मग महुँ नगर तेहि सत जोजन बिस्तार	१ *मुनि कौतुकी नगर तेहि गयऊ*
बसहिं नगर सुंदर नर नारी	२ *पुरबासिन्ह सब पूछत भयऊ*
तेहि पुर बसइ सीलनिधि राजा	३ *सुनि सब चरित भूप गृह आए*
बिस्वमोहनी तासु कुमारी	४ *आनि देखाई नारदहि भूपति राजकुमारि*
करइ स्वयंबर सो नृपबाला	५ *हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला*

व्याकरण—'**नारदहिं**'=नारदको। कर्मकारकका चिह्न 'को' के बदलेमें 'हि'। यथा—'रामहि, नृपहि, मुनिहि, रुद्रहि, मोहि, तुम्हहि, हमहि, पतिहि, कालहि इत्यादि। (श्रीरूपकलाजी)

देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥ १॥
लच्छन तासु बिलोकि भुलानें। हृदय हरष नहिं प्रगट बखानें॥ २॥

शब्दार्थ—**बार**=देर, समय। **भुलाना**=भुलावेमें आना; चकरा जाना; धोखा खाना; भ्रममें पड़ना।

अर्थ—रूपको देखकर मुनिने अपना वैराग्य भुला दिया। बड़ी देरतक देखते ही रह गये॥ १॥ उसके लक्षण देखकर चकरा गये, धोखेमें आ गये अर्थात् ज्ञान जाता रहा। हृदयमें हर्ष हुआ। (लक्षणोंको) प्रकट न कहा। (मनमें सोचने लगे कि)॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी'* अर्थात् *'बिरति'* की इच्छा न रह गयी। वैराग्यको भुलाकर बड़ी देरतक देखते रह गये अर्थात् मोहको प्राप्त हो गये। पूर्व कह आये हैं कि *'श्री बिमोह जिसु रूप निहारी',* अर्थात् रूप ऐसा है कि जो देखे वही मोहित हो जाय, 'श्रीजी' तक मोहित हो जायँ तब नारद कैसे न मोहको प्राप्त होते? (ख) नारदजीका वैराग्य देखिये। मायाने सौ योजनका सुन्दर नगर बनाया, वह उनको न मोहित कर सका। रति-समान सुन्दर स्त्रियाँ बनायीं, उन्हें भी देखकर वे न मोहे। सैकड़ों इन्द्रोंके समान वैभव-विलास रचा, उसे भी देखकर उनका मन न डिगा—ऐसा परम वैराग्य था। पर विश्वमोहिनीका सौन्दर्य ऐसा था कि वे मुग्ध हो गये, वैराग्यकी इच्छा न रह गयी, वैराग्य जाता रहा। कभी उन्हें वैराग्य था यह भी स्मरण न रहा।

नोट—१ *'बड़ी बार लगि रहे निहारी'* इति। (क) मुनि हाथ पकड़कर लक्षण देखने लगे तो हाथ हाथमें ही रह गया, दृष्टि कन्याके मुखपर ही डट गयी। राजा समझे कि मुनि हृदयमें लक्षण विचार रहे हैं पर इनका मन रूपमें आसक्त हो गया है। इसीसे ये कुछ-का-कुछ समझे। (ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'बड़ी देरतक रूप निहारते रह गये, यह थिर सात्त्विक है। यहाँ नैनवारी रति मुनिमें अनुचित

इति अभाव है जो हास्यरसका अङ्ग है। अतएव यहाँ 'उर्जस्व अलंकार' है। (ग) टकटकी लगाये देखते रहे अर्थात् वैराग्य चलता हुआ। (पं० शुकदेवलाल)

टिप्पणी—२ *'लच्छन तासु बिलोकि भुलानें'* इति। (क) *'भुलानें'* अर्थात् ज्ञान जाता रहा। यह भी स्मरण न रहा कि मैं ब्रह्मचर्यरत मुनि हूँ। रूप देखकर वैराग्य पहले ही चलता हुआ था। इस तरह ज्ञान और वैराग्य दोनों ही न रह गये, तब मोह हुआ। (ख) यहाँ *'सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाकें॥'* भगवान्‌का यह वाक्य जो उन्होंने नारदसे कहा था सिद्ध हुआ। (ग) यहाँ प्रथम वैराग्यका नाश कहकर तब ज्ञानका नाश कहा; कारण कि वैराग्यसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। यथा—*'जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा।'* (२। ९३) *'धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना।'* (३। १६) *'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।'* (७। ८९) अतएव पहले कारण गया तब कार्य। कारण ही न रह गया तब कार्य कैसे रहे? (घ) *'भुलाना'* ज्ञानका नाश होना है। ज्ञान गया, अतः *'हृदय हरष'* हर्ष हुआ कि उपाय करनेसे यह कन्या हमको मिलेगी। [लक्षण देख हृदयमें आनन्दके मारे विपरीत अर्थ समझ लिया। विपरीत अर्थ समझना यही ज्ञानका जाना है। (पं० शुकदेवलाल)] (ङ) *'नहिं प्रगट बखाने'* इति। प्रकट न वर्णन करनेमें हृदयका भाव यह था कि लक्षण सुनकर देवता, मनुष्य, राक्षसादि सभी उसे पानेका प्रयत्न करेंगे और राजा शीलनिधि इन लक्षणोंको जान जायँगे तो वे त्रिदेवमेंसे ही किसीको देंगे। अतः गुण प्रकट न किये। ☞नीति है कि जबतक कार्य न हो जाय तबतक वह बात प्रकट न की जाय। यथा—*'जोग जुगुति तप मन्त्र प्रभाऊ। फलै तबहिं जब करिअ दुराऊ॥'* (१। १६८) *'जिमि मन माँह मनोरथ गोई।'* (२। ३१६) (च) इसी चौपाईका आगे विस्तार करते हैं। लक्षण देखकर भुला गये हैं। वे लक्षण कौन हैं यह आगे कहते हैं।

बैजनाथजी—*'भुलाने।'* अर्थात् कार्यमायाने आत्मदृष्टि खींच मुनिको प्राकृत जीवोंकी तरह इन्द्रियविषयमें आसक्त कर दिया। रूप-विषय पा नेत्रद्वारा हर्ष हृदयमें भर गया, उसकी प्राप्तिके लिये वे सकाम हुए जिससे सत्यका नाश हुआ। इसीसे लक्षण प्रकट न किये, झूठ बोले।

नोट—२ श्रीलमगोड़ाजी इस प्रसङ्गकी आलोचना करते हुए लिखते हैं कि कन्याको देखते ही मायाने ऐसा घेरा कि वे कामवश हो लड़कीके सौन्दर्यपर आसक्त हो गये। पतनका यह हाल हुआ कि कामके विजयवाले मार्केको भूल गये, आगपर रखे हुए बालकी तरह नैतिक महत्ताकी कड़ियाँ खटाखट टूट गयीं और एक दोषके बाद दूसरा दोष पैदा हो चला। जब हाथ दिखाया गया तब मनगढ़न्त गुण-दोष बता गये पर दिलमें यही सोचते रहे कि इसे किस प्रकार प्राप्त किया जाय। कामके साथ कपट और मिथ्यावादवाले दोष आ धमके। आह! नारद यह समझ न सके कि यह मायारूपिणी बाला है, इसको 'अमर और चराचरसेव्य' भगवान् ही वर सकेंगे।

नोट—३ शिवपु० में कहा है कि राजाके पूछनेपर नारदजी कामसे विह्वल होकर उसको पानेकी इच्छा करके बोले। **'तामिच्छुः कामविह्वलः।'**

जो एहि बरै अमर सोइ होई। समर भूमि तेहि जीत न कोई॥ ३॥
सेवहिं सकल चराचर ताही। बरै सीलनिधि कन्या जाही॥ ४॥
लच्छन* सब बिचारि उर राखे। कछुक बनाइ भूप सन भाखे॥ ५॥

अर्थ—जो इसे ब्याहेगा वह अमर हो जायगा, उसे रणभूमिमें कोई न जीत सकेगा॥ ३॥ सब चर और अचर जीव उसकी सेवा करेंगे जिसे शीलनिधिकी कन्या ब्याहेगी॥ ४॥ उन्होंने सब लक्षण विचारकर हृदयमें रख लिये और कुछ और-के-और ही बनाकर राजासे कहे॥ ५॥

* १६६१ में 'लछन' है। प्रायः 'च्छ' की जगह सर्वत्र 'छ' रहता है।

टिप्पणी—१ (क) *'जो एहि बरै अमर सोइ होई।…'* अर्थात् वह मृत्युको जीत लेगा। (ख) *'समर भूमि तेहि जीत न कोई'* अर्थात् वह त्रैलोक्यविजयी होगा, तीनों लोकोंमें उसको कोई न जीत सकेगा, वह सबको जीत लेगा। (ग) *'सेवहिं सकल चराचर ताही'* अर्थात् वह समस्त ब्रह्माण्डका राजा होगा और 'अमर' है ही अतएव यह सिद्ध हुआ कि वह अनन्त कल्पोंतक राज्य करेगा, यथा—*'जरा मरन दुखरहित तनु समर जितै नहिं कोउ। एक छत्र रिपुहीन महि राज कलपसत होउ॥'* (१। १६४) (घ) ☞यहाँ दो बातें कहीं; एक तो यह कि *'जो एहि बरै'*, दूसरी *'बरै सीलनिधि कन्या जाही।'* भाव कि इन्हीं दोमेंसे एकके साथ विवाह होगा जो या तो परम बलवान् हो या परम सुन्दर हो। परम बली होगा तो सबको जीतकर इसे ब्याह लेगा और परम सुन्दर होगा तो कन्या उसपर रीझकर जयमाल डालकर उसे स्वयं वरण करेगी। (ङ) ☞प्रथम ही कह आये कि *'लच्छन तासु बिलोकि भुलानें'*, *'भुलानें'* लक्षणका यही है कि उलटी समझ हो गयी। समझे कि जो इसको ब्याहेगा वह मृत्यु और शत्रुको जीतकर ब्रह्माण्डका राजा हो जायगा; यह न जाना कि जो कोई अमर, ब्रह्माण्डोंका पति इत्यादि लक्षणसम्पन्न होगा वही कन्याको ब्याहेगा, उसीको कन्या वरण करेगी। ☞*'लच्छन तासु बिलोकि भुलानें'* उपक्रम है और *'लच्छन सब बिचारि उर राखे……'* उपसंहार है।

टिप्पणी—२ (क) *'लच्छन सब बिचारि उर राखे।'* इति। राजाकी प्रार्थना है कि *'कहहु नाथ गुन दोष सब यहिके हृदय बिचारि'*, सो हृदयमें विचारना यहाँतक कहा। हृदयमें विचारकर हृदयमें ही रख लिये, राजासे न कहे। (यहाँ मुख्य तीन लक्षण इन्होंने विचारे—अमरत्व, अजित्व और ब्रह्माण्डका आधिपत्य—इन तीनोंको छिपा रखे)। (ख) *'कछुक बनाइ भूप सन भाखे'* का भाव कि विशेष गुण हृदयमें रखे, सामान्य गुण प्रकट किये। *'सब उर राखे'* और यहाँ *'कछुक भाषे'* कहकर जनाया कि उत्तम गुण सब हृदयमें गुप्त कर रखे, उनमेंसे एक भी न प्रकट किया और जो कहे वह एक तो बहुत थोड़े कहे और वह भी गढ़े हुए, जिसमें कन्याका माहात्म्य (महत्त्व) न खुले। यह मायाविवशता दिखायी कि मुनि होकर कपट किया, पेटमें कुछ, मुँहमें कुछ। स्त्रीसंग्रहकी इच्छा होते ही प्रपञ्चमें फँसे।

व्याकरण—**बनाइ**=बनाकर। पूर्वकालिक क्रिया। यथा—**सुनाइ**=सुनाकर, **देखाइ**=दिखाकर। लेइ, देइ, मुसुकाइ, जाइ, आइ, खाइ, रिसाइ इत्यादि। (श्रीरूपकलाजी)

नोट—शिवपु० में नारदने राजासे ये लक्षण भी कहे हैं। यथा—'**सर्वेश्वरोऽजितो वीरो गिरीशसदृशो विभुः। अस्याः पति ध्रुवं भावी कामजित्सुरसत्तमः॥**' (१८) अर्थात् इसका पति सर्वेश्वर, अजित, शिवसमान विभु, कामजित् और देवताओंमें श्रेष्ठ होगा।

सुता सुलच्छन कहि नृप पाहीं। नारद चले सोच मन माहीं॥ ६॥
करौं जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहि प्रकार मोहि बरै कुमारी॥ ७॥
जप तप कछु न होइ तेहि* काला। हैं† बिधि मिलै कवन बिधि बाला॥ ८॥

दो०—एहि अवसर चाहिअ परम सोभा रूप बिसाल।
जो बिलोकि रीझै कुअँरि तब‡ मेलइ जयमाल॥ १३१॥

शब्दार्थ—**सुलच्छन**=सुलक्षण; सुन्दर उत्तम लक्षणोंसे युक्त। **पाहीं**=से। हैं=हे। यह कानपुर आदिमें अब भी घरोंमें बोला जाता है। प्राय: आश्चर्य और दुःखयुक्त हृदयसे यह शब्द 'हे' सम्बोधनकी जगह प्रयुक्त

---

* एहि—छ०। इहि—रा० प०। तेहि— १६६१, १७०४, १७२१, १७६२, को० रा०।

† हे—छ०, को० रा०, रा० प्र०। हैं-१६६१। है- १७२१, १७६२, १७०४। 'है' पाठ विनय० और मानसमें कई जगह 'हे' के अर्थमें आया है। सम्भवतः यह बोली रही हो।

‡ अरु-वन्दनपाठकजी।

होता है। विनयपत्रिकाकी प्राचीनतम (सं० १६६६ की) पोथीमें तो अनेक पद्योंमें इसका प्रयोग हुआ है और अरण्यकाण्डमें श्रीसुतीक्ष्णजीके प्रसङ्गमें भी यह आया है। यथा—**'हैं बिधि दीनबंधु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाया।'** (३। १०) **रीझना**=मोहित होना; लट्टू हो जाना।

अर्थ—राजासे कहकर कि तुम्हारी कन्या सुलक्षणा है, नारदजी चल दिये। उनके मनमें (कन्याकी प्राप्तिकी) चिन्ता है॥६॥ जिस प्रकार वह कन्या मुझे ब्याहे मैं जाकर वही यत्न विचारकर करूँ॥७॥ उस समय जप-तप कुछ भी न हो सकता था।* (वे मनमें कह रहे हैं) हे विधाता! किस प्रकार कन्या मिले?॥८॥ इस समय (तो) परम शोभा और विशाल रूप चाहिये जिसे देखकर राजकुमारी लट्टू हो जाय, तभी वह जयमाल डालेगी॥१३१॥

टिप्पणी—१ *'सुता सुलच्छन.....'* इति। (क) राजाने गुण और दोष दोनों पूछे पर नारदजीने सुताके **'सुलच्छन'** कहे। इसमें भाव यह है कि नारदजी इस समय मायाके वश हो गये हैं, इसीसे उन्हें माया-(विश्वमोहिनी-)में दोष दिखायी ही नहीं पड़ते, गुण-ही-गुण दीखते हैं; इसीसे उन्होंने गुण ही कहे। यदि दोष देख पड़ते तो फिर प्राप्तिकी इच्छा ही क्यों करते? पुनः, **'सुता सुलच्छन'** का भाव कि इसमें गुण हैं, दोष नहीं हैं। यथा—**'सोइ हरि माया सब गुन खानी।'** (१। १३०। ५) इसीसे दोष नहीं कहे। (ख) पूर्व कहा है कि **'लच्छन सब बिचारि उर राखे'** अर्थात् हृदयमें रखनेमें तो **'लच्छन'** का रखना कहा और राजासे कहनेमें **'सुलच्छन'** शब्द दिया। लक्षण हृदयमें रखे और सुलक्षण कहे, यह कैसा? इस शङ्काका समाधान वक्ताने पहले ही **'कछुक बनाइ भूप सन भाषे'** में **'बनाइ'** शब्द देकर कर दिया है। अर्थात् जो सुलक्षण कहे वे बनाये हुए हैं। जो बात असलको छिपानेके लिये बनायी जाती है, वह असलसे अधिक सुन्दर देखने-सुननेमें होती है; यही दिखानेके अभिप्रायसे यहाँ बनावटमें **'सुलच्छन'** शब्द दिया। (सुलक्षण कहे अर्थात् कहा कि बड़ी भाग्यवान् है, परम सती और सौभाग्यवती होगी, पति बड़ा भारी यशस्वी, पराक्रमी होगा, इसका सुहाग अचल रहेगा इत्यादि।) (ग) **'सोच मन माहीं'** का भाव कि कोई उपाय मनमें नहीं सूझ पड़ता। (क्या यत्न करें जिससे वह हमें ब्याहे यह निश्चित नहीं कर पाते, अतः सोच है। यथा—**'एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहि रैनि बिहानी॥'** (२। २५३) (घ) **'चले'** का भाव कि यत्न करनेके लिये चले, सोचे कि यहाँ बैठे रहनेसे काम नहीं चलेगा; यह आगे स्पष्ट है।

टिप्पणी—२ **'करौं जाइ सोइ जतन बिचारी।......'** इति। प्रथम दो बातोंका विचार करना कह आये। एक **'जो एहि बरै'** (अर्थात् जो महाबलवान् हो कि सब राजाओंको जीतकर इसे ब्याह ले जाय।) दूसरा **'बरै सीलनिधि कन्या जाही'** (अर्थात् जो परम रूपवान् हो जिसमें कन्या स्वयं रीझकर जयमाल पहना दे।) अब सोचते हैं कि हम अपने पुरुषार्थसे तो कन्याको वर नहीं सकते, इससे उपाय वह करना चाहिये जिससे कन्या स्वयं हमपर रीझकर हमें ब्याह ले। (दो बातोंमेंसे अपनेमें एक भी नहीं पाते, न तो बल और न परम सौन्दर्य। इसीसे यत्नका विचार किया। स्वयंवर है, इसमें बलका प्रयत्न करके हर ले जाना अयोग्य है, इससे दूसरी बातके लिये प्रयत्न करना उचित समझा।) यत्नका विचार आगे लिखते हैं।

टिप्पणी—३ **'जप तप कछु न होइ तेहि काला।.....'** इति। नारदजी विचारते हैं कि कुछ जप-तप करें। (अर्थात् जप-तपसे कार्य सिद्ध हो सकता है, परम सौन्दर्य मिल सकता है।) पर उस कालमें जप-तप कुछ हो नहीं सकता। अर्थात् उसके लिये समय चाहिये और यहाँ अवकाश है नहीं, स्वयंवर होने जा रहा है, थोड़ा ही समय रह गया है (दूसरे जप-तपमें मनकी आवश्यकता है और मन इस समय पराये हाथमें है।) अतएव विधिसे प्रार्थना करते हैं। **'बिधि'** से प्रार्थना करनेका भाव कि आप कर्मका फल देनेवाले हैं और मुझसे जप-तपादि कोई भी कर्म हो नहीं सकते, तब किस तरह **'बाला'** मिले। अर्थात् बालाके मिलनेकी कुछ **'विधि'** नहीं है, आप कोई **'विधि'** सुझावें, क्योंकि आप **'विधि'** हैं, आप अपना नाम सत्य कीजिये। (जैसे

* अर्थान्तर—१ जप-तपसे इस समय कुछ नहीं हो सकता। २ उस समयतक जप-तप कुछ हो नहीं सकता।

श्रीसीताजीने अशोकसे कहा था—*'सुनहि बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका॥'* (५। १२) ब्रह्माकी प्रार्थनासे विधि सूझी जो आगे कहते हैं।

नोट—१ कुछ लोग यह शङ्का करते हैं कि 'पूर्व किये हुए जप-तपादिके बलसे क्यों न ब्याह कर लिया?' इसका समाधान यों किया जाता है कि—(१) भक्तोंका जप-तप निष्काम होता है। जो इन्होंने पहले किया था वह तो भगवदर्पण हो चुका, वह लौट नहीं सकता। पुनः, (२) भ्रममें ज्ञान-वैराग्यके साथ ही पूर्वकृत जप-तपका स्मरण भी न रहा। भक्तिके प्रभावसे इतना तो अवश्य सूझा कि हरि ही हमारे हितू हैं, उन्हींसे रूप माँगूँ।

टिप्पणी—४ *'एहि अवसर चाहिअ परम सोभा रूप बिसाल।'''''* इति। (क) यहाँ परम शोभा और विशाल रूप दो बातें चाहते हैं। अङ्गकी सुन्दरता *'शोभा'* है और अङ्गकी रचना *'रूप'* है। (शरीरका चढ़ाव-उतार, सब अङ्ग यथायोग्य जहाँ जैसा चाहिये वहाँ वैसा ही होना *'रूप'* कहलाता है। शोभा=सौन्दर्य; सुन्दरता।) इस अवसरमें जप-तप नहीं हो सकता, रूप हो सकता है (यह *'विधि'* ने सुझाया) इसीसे रूपकी प्राप्तिका विचार करते हैं। (परम शोभा और विशालरूपका भाव यह भी है कि स्वयंवरमें अनेक राजा आये हैं जो शोभा, सौन्दर्य और रूपसे युक्त हैं, जब उन सबोंसे बढ़कर रूप और सौन्दर्य होगा तभी कन्या उन सबोंको छोड़कर इन्हींको ब्याहेगी, अन्यथा नहीं। **'कन्या वरयते रूपम्'** प्रसिद्ध ही है। अतः *'परम'* शोभा और *'विशाल'* रूप चाहते हैं।) पूर्व कह आये कि बल हो अथवा सौन्दर्य। संत किसीसे वैर नहीं करते, इसीसे इन्होंने बलकी चाह न की किंतु शोभाकी चाह की। (ख) *'मेलइ जयमाल'*—इन शब्दोंसे *'करै स्वयंबर सो नृप बाला'* के *'स्वयंबर'* शब्दका अर्थ खोला कि 'जयमाल गलेमें डालना' स्वयंवर है। (वा, यह जयमाल स्वयंवर है यह जनाया।) यहाँ 'सम्भावना अलंकार' है। (ग) ☞ यहाँसे इनके हृदयकी आतुरता देखते चलिये। विशेष आगे लिखा जायगा।

नोट—२ समानार्थी श्लोक, यथा—**'सुतेयं तव भूपाल सर्वलक्षणलक्षिता। महाभाग्यवती धन्या लक्ष्मीरिव गुणालया॥''' इत्युक्त्वा नृपमामन्त्र्य ययौ यादृच्छिको मुनिः॥''' चित्ते विचिन्त्य स मुनिराप्नुयां कथमेनकाम्॥ स्वयंवरे नृपालानामेकं मां वृणुयात्कथम्॥ सौन्दर्यं सर्वनारीणां प्रियं भवति सर्वथा॥ तद्दृष्ट्वैव प्रसन्ना सा स्ववशा नात्र संशयः।'** (रु० सं० २। ३। १७—२१) अर्थात् राजन्! सर्वलक्षणसम्पन्ना बड़ी भाग्यवाली आपकी यह कन्या धन्य है। यह लक्ष्मीके समान गुणोंकी धाम है।''' ऐसा कहकर मुनि चले गये। अब नारदजी मनमें विचार करने लगे कि इसको किस तरह प्राप्त करूँ। स्वयंवरमें आये हुए राजाओंमें मेरा ही वरण कैसे करे? स्त्रियोंको सौन्दर्य अत्यन्त प्रिय होता है; उसे देखकर स्त्रियाँ प्रसन्न हो अपनेसे वश हो जाती हैं। (ये सब भाव मानसकी इन चौपाइयों और दोहेमें हैं।)

हरि सन मागौं सुंदरताई। होइहि जात गहरु अति * भाई॥ १॥
मोरें हित हरि सम नहिं कोऊ। एहि औसर सहाय सोइ होऊ॥ २॥
बहु बिधि बिनय कीन्ह तेहि काला। प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला॥ ३॥
प्रभु बिलोकि मुनि नयन जुड़ानें। होइहि काजु हिएँहि† हरषानें॥ ४॥

शब्दार्थ— गहरु=देर। **औसर** (अवसर)—समय, मौका।

अर्थ—(एक काम करूँ—) भगवान् हरिसे सुन्दरता माँगूँ (परंतु) भाई रे भाई! वहाँ जानेमें तो बहुत

'एहि' पाठसे अर्थ बहुत सरल हो जाता है। इससे ये वचन नारदके ही विचार सिद्ध होते हैं। 'तेहि' का अर्थ 'उस' होता है और इसी अर्थमें प्रायः इसका प्रयोग सर्वत्र हुआ है। इससे अर्थमें कठिनता हो रही है। इससे यह वचन वक्ताका ले सकते हैं और उसके आगेसे श्रीनारदजीके विचार समझ लें।

* मोहि—भा० दा०।

†१६६१ में 'हिएँह' है।

देर हो जायगी॥ १॥ हरिसरीखा मेरा कोई भी हितू नहीं है, वे ही इस समय सहाय हों॥ २॥ उस समय नारदने बहुत भाँतिसे विनती की तब कौतुकी कृपाल प्रभु प्रकट हो गये॥ ३॥ प्रभुको देखकर मुनिके नेत्र ठंडे हुए। वे हृदयमें हर्षित हुए कि काम अवश्य होगा॥ ४॥

पं० राजबहादुर लमगोड़ा—सच है, 'जादू वह जो सिर पै चढ़के बोले'। ये देवर्षि नारद हैं या कामपीड़ित मजनूँ, जो अपने खयाली पुलावमें मग्न है। जिस विष्णुभगवान्‌से अपने कामविजयकी बड़ी डींग मारी थी उन्हींसे अपनी कामवासनाकी पूर्त्तिके निमित्त आज अपने लिये सौन्दर्य माँगने जा रहे हैं। फिर व्याकुलता और उतावलीका यह हाल है कि सोच रहे हैं कि यदि क्षीरसागर या वैकुण्ठतक जाना पड़ा तो *'होइहि जात गहरु अति भाई'*। *'भाई'* शब्द बड़ा मार्मिक है। वह हमारी सहानुभूतिको उत्तेजित करना चाहते हैं, परंतु हमें हँसी आ जाती है क्योंकि व्याकुलता और उतावलीपन प्रकट हो जाता है।

टिप्पणी—१ (क) *'हरि सन मागौं सुंदरताई'* इति। *'एहि अवसर चाहिअ परम सोभा रूप बिसाल'* इस विचारके साथ यह भी विचार मनमें आया कि हरिमें परम शोभा और विशालरूप दोनों हैं और उन्हें रूप देनेका सामर्थ्य भी है, अतः उन्हींसे क्यों न सुन्दरता माँग लूँ यह विचार आया। इसीको निश्चय किया; पर वे क्षीरसागरमें रहते हैं, वहाँतक जानेमें विलम्ब होगा—*'होइहि जात गहरु अति भाई'*, तबतक सब काम ही बिगड़ जायगा। (ख) ☞देखिये, माया नारदको ठगने आयी है और नारद मायाको ठगना चाहते हैं, दूसरेका रूप माँगकर मायाको अपनी पत्नी बनाना चाहते हैं। मायाने अपना रूप दिखाकर नारदको मोहा और नारद मँगनीका रूप दिखाकर मायाको मोहना चाहते हैं। (ग) *'होइहि जात गहरु अति'* भाव कि हमें क्षीरसिंधुतक जानेमें देर होगी, हरिको यहाँ आनेमें देर न लगेगी, इसीसे सोचते हैं कि वे ही आकर सहाय हों। *'गहरु अति'* से जनाया कि क्षीरसिंधु वहाँसे बहुत दूर है। भगवान्‌के स्थानसे बहुत दूरतक मायाका गम्य नहीं है। (भुशुण्डिजीके आश्रमसे चार-चार कोसतक चारों ओर अविद्या न व्यापती थी, *'ब्यापिहि तहँ न अबिद्या जोजन एक प्रजंत।'* तब जहाँ भगवान् स्वयं हैं वहाँसे न जाने कहाँतक मायाका गुजर न होगा। यह नगर बहुत दूरीपर रचा गया होगा। ☞(घ) यहाँ शंका होती है कि 'ये योगिराज हैं, योगबलसे आँख बन्द करके क्यों नहीं जाते? [जैसे स्वयंप्रभाने योगबलसे वानरोंको समुद्रतटपर पहुँचा दिया और स्वयं उसी तरह रामचन्द्रजीके समीप पहुँची और फिर वहाँसे बदरीवनको चली गयी। (कि० दोहा २५) और नारदजी अव्याहतगति हैं, यथा—*'……गति सर्बत्र तुम्हारि।'* (१। ६६)] इसका समाधान यह है कि मुनि इस समय मायाके वशमें होनेसे योगकी सुध (अपना मनोवेग एवं अपना कर्तव्य) भूल गये हैं, यथा—*'माया बिबस भए मुनि मूढ़ा।'* (१३३। ३) (और योगसे भी पहुँचनेमें कुछ विलम्ब ही होगा।) (ङ) *'भाई'* शब्द यहाँ मनसे सम्बोधन है। ऐसा प्रायः बोलनेकी रीति है, यथा—*'जग बहु नर सर सरि सम भाई'*, *'करइ बिचार करउँ का भाई'* इत्यादि। विशेष (१। ८। १३) *'जग बहु नर……'* में देखिये।

टिप्पणी—२ (क) *'मोरे हित हरि सम नहिं कोऊ'* इति। जो अपना हितैषी होता है उसीसे वस्तु माँगे मिलती है, सहायता ली जाती है, वही अवसर पड़नेपर सहाय होता है। यथा—*'तोहि सम हित न मोर संसारा। बहे जात कै भइसि अधारा॥'* (२। २३। २) *'हरि'* का भाव कि 'क्लेशं हरतीति हरिः' आप क्लेशके हरनेवाले हैं, आप हमारे शोचको दूर करें। इसीसे *'हरि'* शब्द दिया। (ख) *'एहि अवसर सहाय सोइ होऊ।'*—सहाय हो अर्थात् हमारा उपकार करो, हमारा क्लेश हरो। *'एहि अवसर'*—अवसर निकल जानेपर कार्यकी हानि है इसीसे नारदजी बारंबार अवसरका विचार कर रहे हैं, यथा—*'जप तप कछु न होइ तेहि काला'* *'एहि अवसर चाहिअ परम सोभा…'* तथा यहाँ *'एहि अवसर सहाय सोइ होऊ।'* ☞यहाँ यह दिखाते हैं कि भगवद्भक्तको यदि कोई कामना होती है तो वह उसे अपने ही प्रभुसे माँगता है, दूसरेसे कदापि नहीं। कष्ट पड़नेपर उन्हींको पुकारता है। धन्य हैं कृपालु भगवान् भी कि मोहमें लिप्त होनेपर भी वह शरणमें आये हुएके ऊपर अपना हाथ रखे ही रहते हैं। वे ही सच्चे हितैषी हैं—*'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपालु'* (विनय० १९१), *'तुलसी प्रभु साँचो हितू……'* (विनय० १९०)]

प० प० प्र०—इतने विषयलोलुप, कामी, मायाविमूढ़ हो गये हैं, फिर भी किसी अन्यका भरोसा नहीं है। यह विशेषता भक्तिका प्रभाव है। इस अनन्यगतिकताने ही मुनिको आखिर बचाया है। मायानिर्मित नगरीके राजकुमारीपर मुनिवर मोहित हुए, इससे हम लोग उनपर हँसते हैं पर हम रात-दिन कल्पों-कल्पोंतक क्या करते हैं! यह जग माया-निर्मित मायामय, असत्य मिथ्या ही तो है और हम बड़े-बड़े पण्डित शूरवीरादि भी मायाजनित अगणित विषयोंसे ही तो सुख चाहते हैं। हम तो मायाजनित अनित्य नश्वर प्राणी मनुष्यादिका ही भरोसा रखते हैं, अपनी निज करनीके भरोसेपर ही चलते हैं। *'मोरे हित हरि सम नहिं कोऊ'* यह तो स्वप्नमें भी कभी हमारे चित्तमें नहीं आता। तब तो हम ही अधिक विमूढ़ और उपहासास्पद हैं। ऐसे विमूढ़ होते हुए भी हम लोग विद्यामायाविमूढ़ देवर्षिका मोह देखकर उनकी हँसी उड़ाते हैं, पर हम यह नहीं सोचते कि स्वयं क्या करते आये हैं। मानस, भागवत, वेदान्तशास्त्रादि मुखसे गाते हुए भी हम तो अविद्या-मोहमें ही आनन्द मान रहे हैं, इसकी हम लोगोंको लज्जा नहीं।

टिप्पणी—३ (क) *'बहु बिधि बिनय कीन्हि तेहि काला'* जैसे कि, आपने अमुक-अमुक भक्तोंकी सहायता की, आप कृपालु हैं, सन्तके हितैषी हैं, हमारे ऊपर कृपा करके प्रकट होकर सहायता कीजिये। (ख) *'तेहि काला'* देहलीदीपक है अर्थात् जिस समय बिनय की उसी समय भगवान् भी प्रकट हो गये। नारदजीने प्रार्थना की कि *'एहि अवसर'* सहाय हूजिये, अतः भगवान् उसी *'काल'* प्रकट हो गये—(बिना यत्नके चितचाही बात होनेसे 'प्रथम प्रहर्षण अलंकार' हुआ।) (ग) *'प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला'*—(*'प्रगटेउ'* के सम्बन्धसे *'प्रभु'* शब्द दिया। इन दोनों शब्दोंसे जनाया कि वे तो सर्वत्र हैं, उनका कहीं आना-जाना थोड़े ही है, प्रेमसे तुरत जहाँ भक्त चाहे कृपा करके प्रकट हो जाते हैं; यथा—*'हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥''प्रेम तें प्रभु प्रगटै जिमि आगी।'* समर्थ हैं, जहाँ जब चाहें प्रत्यक्ष हो जायँ। प्रकट होनेके सम्बन्धसे कृपालु भी कहा।) *'कौतुकी'* का भाव कि भगवान् कौतुक करना चाहते हैं, यथा—*'मुनि कर हित मम कौतुक होई।'* कृपालका भाव कि मुनिपर कृपा करके हित करनेके लिये प्रकट हुए। [☞स्मरण रहे कि मोह-प्रसंगका प्रारम्भ ही *'कौतुक'* बीजसे हुआ है। *'भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान॥'* (१२७) अतएव प्रसंगके अन्ततक कौतुकका प्रसंग चला जा रहा है, मुनि कौतुकी, नगर कौतुकी, भगवान् भी कौतुकी, सारा खेल मायाका कौतुक, रुद्रगण कौतुकी इत्यादि।]

टिप्पणी—४ (क) *'प्रभु बिलोकि मुनि नयन जुड़ाने'* —अत्यन्त सुन्दर स्वरूप देखकर नेत्र शीतल हुए कि ऐसा स्वरूप मिलनेसे कार्य अवश्य सिद्ध होगा क्योंकि कार्य रूपहीके अधीन है। (ख) *'होइहि काजु हृदय हरषाने।'* हर्ष होनेके कई कारण हैं एक तो यही कि कार्य सिद्ध होनेकी प्रतीति हुई—*'होइहि काज।'* दूसरे यह सोचकर कि जब यह रूप देखकर हमारे नेत्र शीतल हुए हैं तब उसके नेत्र क्यों न शीतल होंगे। तीसरे कि यदि सुन्दर रूप न देना होता तो प्रकट न होते, भगवान् भक्तको 'नहीं' नहीं करते, (यथा—*'मोरे कछु अदेय नहिं तोरे', 'कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम्ह माँगी॥'* (३। ४२) 'होइहि' अर्थात् अवश्य होगा, इसमें सन्देह नहीं। विश्वास इससे है कि कार्य न करना होता तो प्रकट न होते।—[व्याकरण—*'होइहि'*=होगा। भविष्य क्रिया अन्य पुरुष। यथा—मिटिहि, मिलिहि, जाइहि, रीझिहि, बरिहि, देखिहि, चलिहि।' (श्रीरूपकलाजी)]

नोट—शिवपु० के नारद विष्णुके लोकहीको चले गये और एकान्तमें उनसे सब वृत्तान्त कहा है। मानसके नारदको यह ज्ञान है कि विष्णु सर्वत्र प्रकट हो सकते हैं इससे मार्गमें ही प्रार्थना करते हैं, इनको बहुत उतावली है।

अति आरति कहि कथा सुनाई। करहु कृपा करि* होहु सहाई॥५॥

* हरि—पं० रा० व० श०, वै० रा० प्र०। प्रभु—शुकदेवलाल। करि-१६६१, रा० बा० दा०, को० रा०, श्रीनंगे परमहंसजी। 'करि' पाठ लेनेसे इस चरणकी वाक्यरचना अवश्य शिथिल हो जाती है, परन्तु कविने मुनिकी अधीरताको द्योतित करनेके लिये जान-बूझकर उनसे ऐसी भाषाका प्रयोग कराया है। (गीताप्रेस-संस्करण)

आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहि पावौं ओही॥ ६॥
जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा॥ ७॥
निज माया बल देखि बिसाला। हिय हँसि बोले दीनदयाला॥ ८॥

दो०—जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार॥ १३२॥

अर्थ—बहुत आर्त्त (दीन) होकर एवं बहुत आतुरतासे उन्होंने (सब) कथा कह सुनायी (और प्रार्थना की कि) कृपा कीजिये, कृपा करके सहाय हूजिये॥ ५॥ हे प्रभो! मुझे अपना रूप दीजिये, (क्योंकि) और किसी तरह मैं उसे नहीं पा सकता॥ ६॥ हे नाथ! जिस तरह मेरा हित हो वह (उपाय) शीघ्र कीजिये, मैं आपका दास हूँ ॥ ७॥ अपनी मायाका विशाल बल देख मन-ही-मन हँसकर दीनदयाल भगवान् बोले॥ ८॥ 'हे नारद! सुनो, जिस प्रकार तुम्हारा परम हित होगा हम वही करेंगे और कुछ नहीं, हमारा वचन असत्य नहीं'॥ १३२॥

पं० राजबहादुर लमगोड़ा—१ कौतुक कितना सुन्दर है, इसका पता तो अभी लग जायगा पर कृपाके स्पष्टीकरणतक तनिक रहना पड़ेगा, यद्यपि उसका आरम्भ भी यहींसे है। मुनिकी व्याकुलता और देर होनेका खटका इसी कृपालुतासे तो दूर करके शीघ्र ही भगवान् प्रकट हो गये। *'नयन जुड़ाने' 'हिय हरषाने'* से यह बात साफ हो जाती है।

२—प्रार्थनाका अन्तिम अंश बड़ा मजेदार है और ऐसे रूपमें रखा गया है कि श्लेष पैदा हो जाय। बस, लीलामय भगवान्‌को कौतुक एवं परम हित दोनोंके दिखानेका मौका मिल गया।

३—*'हिय हँसि'* से भगवान्‌की उदारता तथा उपहास दोनों भाव प्रकट होते हैं। हँसी प्रकट न हो इसका कारण यह भी है कि मजाकका पता नारदको न लगे।

४—भगवान्‌का उत्तर स्पष्ट है परंतु कामपीड़ित मोहान्ध नारदको आज कुछ समझमें नहीं आता—पतन यहाँतक पहुँच गया। ये वही नारद मुनि हैं जिनके लिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि देवर्षियोंमें नारद मैं हूँ।

टिप्पणी—१ (क) *'अति आरति कहि कथा सुनाई'* इति। भगवान् आर्त्तहरण हैं, अत: 'अति आर्त' होकर कहा। *'अति आरति……'* अर्थात् कहा कि हमने आपको बड़े दु:खमें बुलाया है, हमको बड़ा संकट है, उसीकी कथा फिर कही। *'कथा सुनाई'* अर्थात् बताया कि 'आपके यहाँसे चलनेपर बीचमें एक सुन्दर नगर मिला। वहाँके राजा-प्रजा सब बड़े सुन्दर हैं। राजाके वैभवविलासके आगे सैकड़ों इन्द्रोंका वैभव कुछ नहीं है। उसकी परम सुन्दरी एक कन्या विश्वमोहिनी है जो अद्भुत रूप-लक्षणयुक्त है। वह इस समय अपना स्वयंवर कर रही है। उसीकी प्राप्तिमें कृपा करके सहाय हूजिये। उसके पानेके लिये हम आतुर हो रहे हैं, हमारी यह आर्ति हरण कीजिये।' क्या सहायता करें सो आगे कहते हैं कि *'आपन रूप देहु प्रभु मोही।'* ☞ जिनसे प्रथम कहा था कि हमने काम-क्रोधको जीत लिया उन्हींसे अब कामी होकर स्त्री-प्राप्तिके लिये दीनतापूर्वक प्रार्थना करते हैं, यह कैसी लज्जाकी बात है? उनसे किस मुखसे कहा गया? उन्हें लज्जा न लगी? इस सम्भावित शङ्काकी निवृत्तिके लिये *'अति आरति'*—पद प्रथम ही दिया गया है। अति आर्त्त हैं, इसीसे होश-हवास ठिकाने नहीं, चेत नहीं है। आर्त्तके चेत एवं विचार नहीं रह जाता, यथा—*'कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू। रहत न आरतके चित चेतू॥'* (२। २६९। ४) और नारद तो 'अति आर्त्त' हैं, *'अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इन्ह को बिलग न मानिये बोलहिं न बिचारी॥'* (विनय० ३४)

टिप्पणी—२ (क) *'आपन रूप देहु प्रभु मोही'* इति। प्रथम विचारमें कह आये कि इस अवसरपर परम शोभा और विशाल रूप चाहिये (दो० १३१) फिर विचारे कि *'हरि सन मागौं सुंदरताई'* (इस चरणमें केवल सुन्दरता माँगनेका विचार लिखा गया) और यहाँ माँगते हैं 'रूप' —*'आपन रूप देहु'*— इससे जनाया कि *'हरि सन……'* में रूपका अध्याहार और यहाँ 'परम सोभा'

का अध्याहार है, दोनों जगह एक-एक लिखकर दोनोंमें दोनोंका होना दोहेके अनुसार जनाया। (ख) *'आन भाँति नहिं पावौं'* इति। भाव यह कि इसीसे मैं आपका रूप माँगता हूँ, नहीं तो न माँगता। *'आन भाँति'* कथनमें भाव यह है कि अन्य सब उपायोंको मैं पूर्व ही विचार चुका हूँ। (वे विचार पूर्व कह आये हैं; यथा—*'जप तप कछु न होइ तेहि काला'*) (ग) *'ओही'* इति। इसका सामान्य भाव तो हो ही चुका कि 'उसको' नहीं पा सकता। दूसरा भाव यह ध्वनित हो रहा है कि जबसे कार्य-सिद्धिका निश्चय हुआ, यथा—*'होइहि काजु हिएँ हरषाने'*, तबसे उन्होंने विश्व-मोहिनीमें स्त्रीभाव मान लिया है, इसीसे उसका नाम नहीं लेते *'ओही'* कहते हैं।—[जबतक भगवान् प्रकट न हुए थे, तबतक नारदजी विश्वमोहिनीके लिये *'कन्या'*, *'कुमारी'*, *'बाला'* और *'कुअँरि'* शब्दोंका प्रयोग करते आये। यथा—*'बरै सीलनिधि कन्या जाही'*, *'जेहि प्रकार मोहि बरै कुमारी'*, *'हैं बिधि मिलै कवन बिधि बाला॥'* तथा *'जो बिलोकि रीझै कुँअरि।'* भगवान्के प्रकट हो जानेसे इनको विश्वमोहिनीकी प्राप्तिका निश्चय हो गया। उन्होंने उसे अपनी स्त्री मान लिया। स्त्रीका नाम नहीं लिया जाता। यथा—'**आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। न ग्राह्यं पित्रोर्नाम ज्येष्ठपुत्रकलत्रयोः॥**' (मं० श्लोक ७ में इस श्लोकका उत्तरार्द्ध इससे भिन्न है)]

टिप्पणी—३ *'जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा।'''* इति। (क) तात्पर्य कि विधि कोई भी हो, हित होना चाहिये। मैंने जो विधि अपने हितके लिये निश्चय की वही मैंने सुना दी; किन्तु यदि आप अन्य कोई विधि उत्तम समझते हों तो आप वही विधि काममें लावें। इस कथनसे इनके ही वचनोंसे स्त्री-प्राप्तिकी प्रार्थनाका खण्डन हुआ। *'हित'* करनेकी विनती भगवान्की प्रेरणासे की गयी, क्योंकि स्त्री न मिलनेसे ही हित है, यही भगवान् करेंगे। स्त्री माँगते हैं, यह भगवान्की इच्छाके प्रतिकूल है। [नोट—*'हित'* नारदमोहहरण-प्रसङ्गका बीज ही है। वहींसे यह प्रसंग उठा है; यथा—*'उर अंकुरेउ गर्ब तरु भारी। बेगि सो मैं डारिहौं उखारी॥ पन हमार सेवक हितकारी। मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई॥'* (१२९। ४—६) अतएव उन्हींकी प्रेरणासे नारदजीके मुखसे ऐसा वचन निकला। (ख) *'करहु सो बेगि'* अर्थात् तनिक भी विलम्ब होनेसे काम बिगड़ जायगा, उसे और कोई ले जायगा। *'दास मैं तोरा'* भाव कि आपका प्रण है दासका हित करना; यथा—*'पन हमार सेवक हितकारी।'* ☞नारदजीको बड़ी उतावली है। उनकी परम आतुरता, उनके हृदयकी शीघ्रता चौपाइयोंसे स्पष्ट झलक रही है। यथा—*'जप तप कछु न होइ तेहि काला। हैं बिधि मिलइ कवन बिधि बाला॥'*, *'एहि अवसर चाहिअ परम सोभा रूप'*, *'होइहि जात गहरु अति भाई'*, *'एहि अवसर सहाय सोइ होऊ'*, *'बहु बिधि बिनय कीन्ह तेहि काला'*, तथा यहाँ *'करहु सो बेगि दास मैं तोरा'* और आगे *'गवने तुरत तहाँ रिषिराई।'* इस प्रकार प्रसङ्गभरमें चौपाइयाँ उनकी शीघ्रता अपने शब्दोंसे दिखा रही हैं। यहाँसे *'बेगि'* का सिलसिला चला।

प० प० प्र०-यदि यह वचन नारदजीके मुखसे न निकलता तो भगवान्को अपना रूप देना ही पड़ता। ऐसे वचन मुखसे निकलवानेवाली हरिकी विद्यामाया ही है। विद्यामाया जीवका विनाश नहीं होने देती। यथा—*'हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या। ताते नास न होइ दास कर॥'* (७। ७९। २-३) नारदजी समझते हैं कि विश्वमोहिनीसे विवाह करनेमें हित है। हम भी ऐसा ही मानकर अगणित विषयरूपी भानुकरवारिके पीछे पुच्छविषाणवाले मृगोंके समान ही दौड़ते हैं, तथापि क्या हमारे मुखसे कभी *'करहु सो बेगि दास मैं तोरा'* यह शब्द निकलते हैं? कदाचित् ऐसा मुँहसे निकलता भी हो तथापि चित्तमें तो 'मैं' समाया हुआ है, मैं ज्ञानी इत्यादि भरा ही तो रहता है।

टिप्पणी—४ *'निज माया बल देखि बिसाला।'''* इति। (क) मायाका बल यह कि अभी-अभी इन्होंने हमसे काम-क्रोधके जीतनेकी बात की थी सो मायाने तुरत उनको पकड़ लाकर हमारे सामने ही, हमसे ही स्त्री-प्राप्तिकी विनती करायी। [(ख) नारदजीने काम-क्रोधपर विजय अहङ्कारपूर्वक कही थी, सो यहाँ *'अति आरत कहि कथा सुनाई। करहु कृपा करि होहु सहाई॥'* इत्यादिसे नारदका कामसे

पराजय दिखाया। स्त्री-प्राप्तिके लिये आतुर होना कामवशसे ही होता है। *'आन भाँति नहिं पावौं ओही'* से उनपर लोभकी जय दिखायी। आगे क्रोधसे भी पराजित होना दिखावेंगे। (ग) जब-जब मायाने बड़ोंको जीता तब-तब उसकी बड़ाई की गयी है। १। ५२। ६, १। ५६। ५, १। १२८। ८ देखिये]। (घ) नारदजीने कामको जीता और उन्हीं नारदको मायाने जीता। अत: उसके बलको 'विशाल' कहा। पूर्व जो कहा था—*'सुनहु कठिन करनी तेहि केरी',* उसी *'कठिन करनी'* को यहाँ *'बल बिसाला'* कहा है। (ङ) *'हिय हँसि'*—हृदयमें हँसे क्योंकि प्रकट हँसनेसे नारदजीको सन्देह होता, वे समझते कि हमारा अनादर (अपमान) कर रहे हैं, हमें अपना रूप न देंगे। अन्य कोई कारण हँसीका यहाँ नहीं जान पड़ता। मायाका बल समझकर हँसे, सो यह हँसी गुप्त रखनेयोग्य ही है, अतः हृदयमें हँसे।

नोट—१ महाराज हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'नारद भगवानके मन हैं। मनके रहनेका स्थान हृदय है। अतएव हृदयमें हँसे कि अब कामके जीतनेका अभिमान कहाँ गया? पुनः, इससे आनन्द हुआ कि दासका हित करनेका समय आ गया।' (रा० प्र०)

नोट—२ (क) यहाँ भगवान्‌में कठोरता पायी जाती है कि अपने भक्तकी दुर्दशा स्वयं ही कराते हैं। यह बात यथार्थ ऐसी नहीं है, जैसे बालकके फोड़ेके चिरानेमें माँको हृदय कठोर कर लेना पड़ता है जिसमें बच्चा निरोग हो जाय, यथा—*'तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि'।* इस शङ्काके निवारणार्थ बारम्बार कृपानिधि, कृपाल आदि विशेषण देते आये हैं। (ख) *'दीनदयाला'*— भाव कि नारद मायावश होनेसे दीन हैं; उनपर दया करके बोले।

टिप्पणी—५ *'जेहि बिधि होइहि परम हित'''''* इति। (क) नारदजीने प्रार्थना की थी कि *'जेहि बिधि होइ नाथ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा॥',* भगवान्‌ने इसी वचनको ग्रहण किया और इसीपर कहा *'जेहि बिधि होइहि'''*।' (भाव यह कि मुनि तो हित ही चाहते हैं पर भगवान् वचन देते हैं कि निश्चिन्त रहो, तुम तो हितहीकी कहते हो, हम वह करेंगे जिसमें तुम्हारा परम हित होगा। *'होइहि'* निश्चयवाचक भविष्य क्रिया है। भगवान् भक्तका परम हित ही चाहते हैं। *'सुनहु'* अर्थात् हमारे वचनोंपर ध्यान दो।) (ख) *'न आन कछु'* का भाव कि तुम जो हमारा रूप माँगते हो सो यह तुम्हारा कहा हुआ हम न करेंगे, हमारा वचन मिथ्या नहीं हो सकता, हम तुमसे सत्य-सत्य कहते हैं। इससे जनाया कि रूप देनेसे तुम्हारा हित न होगा वरञ्च अहित होगा। (यह बात अर० ४३-४४ में नारदजीके पूछनेपर श्रीरामचन्द्रजीने विस्तारपूर्वक मुनिको समझाकर कही है। *'राम जबहि प्रेरेउ निज माया'* (३। ४३२) से *'ताते कीन्ह निवारन'''।'* (४४) तक यह प्रसङ्ग है।)

व्याकरण—**करब**=करूँगा। भविष्य क्रिया उत्तम पुरुष। यथा—'घटब, आउब, जाब, जितब इत्यादि। (श्रीरूपकलाजी)

नोट—३ मिलानके श्लोक, यथा—'**यदि दास्यसि रूपं मे तदा तां प्राप्नुयां ध्रुवम्। त्वद्रूपं सा विना कण्ठे जयमालां न धास्यति॥ स्वरूपं देहि मे नाथ सेवकोऽहं प्रियस्तव। वृणुयान्मां यथा सा वै श्रीमती क्षितिपात्मजा॥ '''स्वेष्टदेशं मुने गच्छ करिष्यामि हितं तव।**' (रुद्रसं० २। ३। २८-२९) अर्थात् यदि आप अपना रूप मुझे दे दें तो वह अवश्य ही मुझको प्राप्त हो सकती है। आपके रूपके बिना वह मेरे कण्ठमें जयमाल कदापि न डालेगी। हे नाथ! आप मुझे अपना स्वरूप दीजिये। मैं आपका प्यारा सेवक हूँ जिससे वह राजपुत्री मुझे वरण कर ले।''' भगवान्‌ने कहा—हे मुनि! आप अपने इच्छित स्थानपर जायँ। मैं आपका 'हित' करूँगा।

कुपथ माँग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥ १॥
एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठएऊ। कहि अस अंतरहित प्रभु भएऊ॥ २॥
माया बिबस भए मुनि मूढ़ा। समुझी नहि हरि गिरा निगूढ़ा॥ ३॥

शब्दार्थ—**कुपथ** (कुपथ्य)=वह आहार-विहार जो स्वास्थ्यके लिये हानिकारक हो। **रुज**=रोग।

ठएऊ=ठाना है, निश्चय किया है। **अंतरहित** (अन्तर्हित)=अन्तर्द्धान; गुप्त। **निगूढ़ा** (नि+गूढ़)=जो गूढ़ नहीं हैं, स्पष्ट।

अर्थ—हे योगी मुनि! सुनिये। (जैसे) रोगसे व्याकुल (पीड़ित) रोगी कुपथ्य माँगे (तो) वैद्य उसे (वह कुपथ्य) नहीं देते॥ १॥ इसी प्रकार मैंने तुम्हारा हित ठाना है। ऐसा कहकर प्रभु अन्तर्द्धान हो गये॥ २॥ मायाके विशेष वश होनेसे मुनि मूढ़ हो गये। (इससे) वे भगवान्‌की स्पष्ट वाणीको (भी) न समझे॥ ३॥

श्रीलमगोड़ाजी—*'सुनहु मुनि जोगी'* तथा दोहेके *'नारद सुनहु तुम्हार'* का *'सुनहु'* शब्द बताता है कि भगवान् साफ ध्यान दिला रहे हैं। फिर *'मुनि' 'जोगी'* का व्यंग्य इतना सूक्ष्म है कि अनुभव किया जा सकता है पर बताया नहीं जा सकता। आह, पतन तो देखिये *'मुनि जोगी'* आज *'मुनि मूढ़'* हो गये।

टिप्पणी—१ *'कुपथ माँग……'* इति। (क) *'कुपथ माँग'*—भाव यह कि रोगीको कुपथ्य नहीं जान पड़ता, इसीसे वह उसे माँगता है। वैद्य जानता है कि क्या कुपथ्य है, क्या पथ्य, इसीसे वह नहीं देता। (ख) *'रुज ब्याकुल रोगी'* इति। यहाँ नारद रोगी हैं, जो मायारूपी (वा, मायाका कार्य कामवासनारूपी) रोगसे पीड़ित हैं और स्त्रीरूपी कुपथ्य माँगते हैं। (ग) *'सुनहु'* कथनमें भाव यह है कि पीछे नारदजी यह न कह सकें कि 'मैंने आपका उत्तर नहीं सुना था। यदि मैंने सुना होता कि आपने ऐसा कहा है तो मैं स्वयंवरसमाजमें अपमान कराने क्यों जाता?' अतएव सावधान होकर सुननेको कहते हैं। (घ) *'मुनि जोगी'*—भाव कि योगीके लिये स्त्रीकी प्राप्ति बड़ा कुपथ्य है। उसके लिये विषयसेवन कुपथ्य है। यथा—*'बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे॥'* (७। १२२। ४) [*'मुनि जोगी'* में व्यंग्य है। भाव यह है कि 'हमारी परतन्त्रताका अभिमान त्यागकर समाधिसे कामको हटाया था सो योग कहाँ है?' (अर्थात् जो आपको यह अभिमान था कि आपने अपने योगबलसे, अपने पुरुषार्थसे कामपर विजय पायी, वह योग आज कहाँ गया?) अथवा 'भाव कि योगियोंका जिसमें हित होता है वही हम करेंगे।' (रा० प्र०)]

प० प० प्र०—*'रुज ब्याकुल रोगी।……'* इति। नारदजीको वातज सन्निपात ज्वर चढ़ा है। ऐश्वर्य-लोभ प्रबल है पर मुख्य है काम। *'काम बात कफ लोभ अपारा।'* पित्त भी कुपित हुआ है पर अभी स्पष्ट देखनेमें नहीं आता। आगे पित्तका प्रकोप स्पष्ट प्रकट होगा।—*'क्रोध पित्त नित छाती जारा'* वातरोगी पथ्य-कुपथ्यका विचार ही नहीं कर सकता पर वातके कारण *'सन्यपात जलपसि दुर्बादा'* के समान कुपथ्यको ही पथ्य मानता है और उसीको माँगता है। सद्वैद्य जानता है कि वातज सन्निपातमें स्त्रीविषयसेवन कुपथ्य है। योग, ज्ञान और भक्तिमें स्त्रीलालसा विनाशकारक है। कुपथ्य न देनेपर रोगी वैद्यको भी दो-चार खोटी-खरी सुनाता है, वही नारद करनेवाले हैं, तथापि रोगीके परम हितके लिये वैद्य सब कुछ शान्तिसे सुन लेता है और उसके वातविकारको हटाता है, ऐसा ही भगवान् करते हैं।

वि० त्रि०—शरीर-रोग और मानसिक रोगकी एक-सी गति है। जैसे सभी शूल वातप्रधान हैं, वैसे ही विषय-मनोरथ सभी कामप्रधान हैं। यथा—*'बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥'*

नोट—१ (क) भगवान् सीधे-सीधे न कहकर कि विवाह न होने दूँगा, उसे कार्यद्वारा जनाया कि वैद्य कुपथ्य नहीं देता। कारण कहकर कार्य सूचित करना 'कारज निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार' है। (वीरकवि) (ख) व्याकरण-देइ=देता है। वर्तमान क्रिया। यथा—करइ, जरइ, लेइ, सेइ। (श्रीरूपकलाजी)

नोट—२ मिलानके श्लोक, यथा—'**भिषग्वरो यथार्त्तस्य यतः प्रियतरोऽसि मे॥**' (३१) अर्थात् जैसे वैद्य रोगीका हित करता है, क्योंकि तुम मेरे प्यारे हो। '**मेने कृतार्थमात्मानं तद्यत्नं न बुबोध सः।**' (रुद्रसं० २। ३। ३३) अर्थात् अपनेको कृतार्थ मानते हुए उनके यत्नको नहीं पहिचाना।

टिप्पणी—२ *'एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठएऊ।'* इति। (क) *'एहि बिधि'* अर्थात् जैसे वैद्य रोगीका हित करता है वैसे ही। (अर्थात् वैद्य माँगनेपर भी कुपथ्य नहीं देता, वैसे ही माँगनेपर भी मैं रूप न दूँगा, विवाह न होने दूँगा।) (ख) 'ठएऊ'=किया। यथा—*'धूप धूम नभ मेचक भएऊ।*

सावन घन घमंड जनु ठयऊ॥' अर्थात् मानो सावनके घनने घमण्ड किया; ***'जब तें कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न भयऊ॥'*** (२। १६२) ***'सोरह जोजन मुख तेहि ठयऊ॥'*** (५। २) (पर यहाँ 'ठाना है, निश्चय किया है', यह अर्थ विशेष उत्तम है।) (ग) ***'कहि अस अंतरहित*****'** इति। [चटपट यह कहकर चल दिये जिसमें मुनि आगे और कुछ न कहने पावें। अथवा, भाव कि बात समाप्त हुई और चल दिये, क्योंकि इस समय मुनि शीघ्रतामें हैं, सब कार्य ***'बेगि'*** (शीघ्र) ही चाहते हैं, बात समाप्त होते ही चले जानेसे मुनिको संतोष होगा। जैसे प्रकट होनेमें ***'प्रभु'*** कहा था, वैसे ही यहाँ अन्तर्हित होनेमें भी ***'प्रभु'*** शब्द दिया। ***'प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला।'*** (१३२। ३) उपक्रम है और ***'अंतरहित प्रभु भएऊ'*** उपसंहार है]

टिप्पणी—३ ***'माया बिबस भए मुनि मूढ़ा*****'** इति। (क) 'विवश' का भाव कि मायाके वशमें तो सभी चराचरमात्र है, यथा—**'यन्मायावशवर्त्तिविश्वमखिलम्'** (मं० श्लो० ६) ***'को जग जाहि न ब्यापी माया'***; पर मुनि उसके विशेष वशमें हैं। (ख) वाणी निगूढ़ है निगूढ़=निर्गत है; गूढ़ता जिसमें; अर्थात् स्पष्ट। वाणी स्पष्ट है तब क्यों न समझ पड़ी, इसका कारण प्रथम चरणमें बताया कि वे ***'माया बिबस'*** हैं। माया मनुष्यको मूढ़ बना देती है, यथा—***'जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह मन करई॥'*** (७। ५९। ५) (ग) ***'समुझी नहिं'*** भाव यह कि यदि वे समझते तो स्वयंवरमें न जाते, इसीसे मायाने उनको मूढ़ बना दिया जिसमें वे समझ न पावें। माया जानती है कि भगवान् सत्य बोलते हैं, वे अपने भक्तोंसे छिपाव न करेंगे, यथार्थ ही कहेंगे। मुनि समझ जायेंगे तो मेरा सारा परिश्रम ही व्यर्थ हो जायगा, यह सोचकर उसने उन्हें विशेष मूढ़ कर दिया। (वे समझे कि हमारा परम हित विवाहसे है, वही भगवान् करनेको कहते हैं।) [(घ) ***'हरि गिरा'*** का भाव कि यह वाणी उनका क्लेश हरनेके लिये है। पंजाबीजी 'निगूढ़' का अर्थ 'अति गूढ़' लिखते हैं पर यह अर्थ संगत नहीं है।]

गवनें तुरत तहाँ रिषिराई। जहाँ स्वयंबर भूमि बनाई॥ ४॥
निज निज आसन बैठे राजा। बहु बनाव करि सहित समाजा॥ ५॥
मुनि मन हरष रूप अति मोरें। मोहि तजि आनहि बरिहि न भोरें॥ ६॥

शब्दार्थ—**गवनें**=गये। भूतकालिक क्रिया। (श्रीरूपकलाजी)। **भूमि**=स्थान; रंगभूमि। **बनाव**=सजावट, शृङ्गार। **आसन**=बैठनेके स्थान, जो स्थान जिसके योग्य था।

अर्थ—ऋषिराज नारदजी तुरंत वहाँ गये जहाँ स्वयंवरकी रंगभूमि बनायी गयी थी॥ ४॥ राजालोग बहुत बनाव-शृङ्गार किये हुए समाजसहित अपने-अपने आसनोंपर बैठे हुए थे॥ ५॥ मुनि मनमें प्रसन्न हो रहे हैं कि रूप तो मेरे ही बहुत अधिक है, कन्या मुझे छोड़कर दूसरेको भूलकर भी न ब्याहेगी॥ ६॥

टिप्पणी—१ ***'गवनें तुरत*****'** इति। (क) ***'तुरत'*** गये कि स्वयंवर कहीं हो न जाय। नारदके मनमें बड़ी शीघ्रता (उतावली) है, यह बात ग्रन्थकार अपने अक्षरोंसे दिखा रहे हैं। [जान पड़ता है कि नारदजीको अपना रूप विष्णुरूप देख या समझ पड़ा, इसीसे वे तुरत रंगभूमिमें जा पहुँचे। ***'रिषिराई'*** का भाव कि ये वाल्मीकि और व्यास आदिके आचार्य हैं। जब मायाने इनकी यह दशा कर डाली तब अस्मदादिक किस गिनतीमें हैं? पुनः भाव कि नारदजी इस समय स्वयंवरमें जा रहे हैं, राजकुमारीके साथ ब्याह करना चाहते हैं, स्वयंवरमें सब राजा-ही-राजा हैं अतएव 'देवर्षि' न कहकर यहाँ उनको 'ऋषिराज' कहा। (ख) ***'माया बिबस भए मुनि मूढ़ा'*** से ***'रिषिराई'*** तक यह वाक्य तीनों वक्ताओंमें लगाया जा सकता है। याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजीसे कह रहे हैं कि देखो ये ऋषिराज हैं, तुम्हारे दादा गुरु हैं (क्योंकि भरद्वाजजी वाल्मीकिजीके शिष्य हैं) सो उनकी भी अभिमानसे क्या दुर्गति हुई। शिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं कि अपने गुरुकी दशा देखो और भुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं कि जिनके उपदेशसे तुम यहाँतक आये उनकी क्या दशा मायाने कर डाली। (मा० पी० प्र० सं०)] (ग) ***'भूमि बनाई'*** इति। जैसी श्रीजानकीजीके

स्वयंवरमें रंगभूमि बनी थी, मचान बने थे, वैसे ही यहाँ बने हैं। यथा—'*जहँ धनु मख हित भूमि बनाई॥ अति बिस्तार चारु गच ढारी। बिमल बेदिका रुचिर सँवारी॥ चहुँ दिसि कंचन मंच बिसाला। रचे जहाँ बैठहिं महिपाला॥ तेहि पाछे समीप चहुँ पासा। अपर मंच मंडली बिलासा॥ कछुक ऊँचि सब भाँति सुहाई। बैठहिं नगरलोग जहँ जाई॥*······॥' (१। २२४)

टिप्पणी—२(क) '*निज निज आसन बैठे राजा*', इससे जनाया कि यथायोग्य आसन सबको दिये गये हैं। (ख) '*बहु बनाव करि सहित समाजा*' इति। बहुत शृङ्गार किये हैं जिसमें कन्या उन्हींको प्राप्त हो। मन्त्री, कामदार इत्यादि समाज प्रत्येक राजाके साथ है, क्योंकि समाजसे राजाकी शोभा और उसका ऐश्वर्य प्रकट होता है। इससे जनाया कि जब नारद पहुँचे तब सब राजा रंगभूमिमें पहुँचकर बैठ चुके थे,-कन्या भी आ चुकी थी। कार्य आरम्भ हो चुका था। इसीसे बराबर बहुत जल्दी करते थे कि विलम्ब होनेसे हम समयपर न पहुँचेंगे। इतने सावधान रहे तब समयपर पहुँच पाये। मायाने समयका संकोच इसीसे किया कि जिसमें नारद अल्प समय समझकर प्राप्तिके लिये व्याकुल हों। (ग) '*मुनि मन हरष रूप अति मोरें*'। '*रूप अति*' का भाव कि रूप तो इनके भी है पर मेरे '*अति*' है अर्थात् मेरे रूपके आगे इनका बनाव-शृङ्गार 'कुछ नहीं' के बराबर है। 'अतिरूप' अर्थात् '*परम शोभा रूप विशाल*' जिसकी चाह हमें थी वही भगवान्ने हमें दिया है। 'हर्ष' के कारण दोनों हैं—एक कि हमारे 'अतिरूप' हैं, दूसरे कि हमें छोड़ दूसरेको भूलकर भी न ब्याहेगी। 'अतिरूप' है इसीसे विश्वास है कि '*मोहिं तजि आनहिं*······।' ['*रूप अति मोरें*' इस कथनसे जान पड़ता है कि नारदजीने और राजाओंका शृङ्गार देखा तो पहले चकित हुए, पर जब अपने रूपको समझा तब हर्ष हुआ कि इन सबोंके तो 'रूप' ही है और हमारे तो 'अति रूप' है। (मा० पी० प्र० सं०) शिवपु० से अनुमान होता है कि नारदको अपना रूप हरिका-सा देख पड़ा अथवा उनको विश्वास है कि उनका रूप विष्णुरूप है, इसीसे वे कृतार्थ मनसे वहाँसे चले। मिलानके श्लोक, यथा—'**अथ तत्र गतः शीघ्रं नारदो मुनिसत्तमः। चक्रे स्वयंवरं यत्र राजपुत्रैस्समाकुलम्॥ तस्यां नृपसभायां वै नारदः समुपाविशत्। स्थित्वा तत्र विचिन्त्येति प्रीतियुक्तेन चेतसा॥ मां वरिष्यति नान्यं सा विष्णुरूपधरं ध्रुवम्।**' (३४, ३६) अर्थात् मुनिश्रेष्ठ तुरत वहाँ गये जहाँ स्वयंवर हो रहा था। वह स्थान राजपुत्रोंसे व्याप्त था। मुनि राजसभामें जाकर प्रविष्ट हुए और बैठकर प्रीतियुक्त चित्तसे विचारने लगे कि विष्णुरूपधारी मुझको ही वह वरेगी, दूसरेको नहीं।

मुनि हित कारन कृपानिधाना। दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना॥ ७॥
सो चरित्र लखि काहु न पावा। नारद जानि सबहि सिर नावा॥ ८॥

दो०—रहे तहाँ दुइ रुद्रगन ते जानहिं सब भेउ।
बिप्र बेष देखत फिरहिं परम कौतुकी तेउ॥ १३३॥

शब्दार्थ—**कुरूप**=बुरा रूप। **भेउ**=भेद।

अर्थ—कृपासागर भगवान्ने मुनिके कल्याणके लिये उन्हें ऐसा बुरा रूप दिया कि वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ७॥ इस चरित्रको कोई भी न भाँप सका। सभीने उनको नारद जानकर मस्तक नवाया (प्रणाम किया)॥ ८॥ वहाँ दो रुद्रगण (भी) थे। वे सब भेद जानते थे। ब्राह्मणवेष धारण किये हुए वे देखते-फिरते थे। वे भी परम कौतुकी थे॥ १३३॥

श्रीलमगोड़ाजी—अब यहाँसे क्रियात्मक प्रहसन प्रारम्भ होता है। भगवान् नारदजीको बन्दरका रूप देते हैं, परंतु कविकी कलाका सूक्ष्म अंग देखिये। भगवान् नारदकी हँसी अवश्य कराते हैं पर यह नहीं कि सभीको उनका वानररूप देख पड़े और सभी हँसें। परंतु यदि कोई देखता ही नहीं तो लुत्फ ही क्या था, इससे रुद्रगण उनको चुटकियाँ लेनेको मौजूद हैं और वे देख रहे हैं।

टिप्पणी—१ '*मुनि हित कारन कृपानिधाना*।······' इति। (क) मुनिने माँगा था कि '*जेहि बिधि नाथ*

होइ हित मोरा।'''', अतः मुनिके हितके लिये कुरूप दिया। कुरूपसे मुनिका हित है। (ख) यहाँतक कई (छः) जगह *'हित'* शब्द लिखा गया पर सबका निचोड़ यहाँ लिखा। यथा—*'बेगि सो मैं डारिहौं उखारी। पन हमार सेवक हितकारी॥'* (१२९। ५) *'मुनिकर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई॥'* (१२९। ६) *'जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा॥'* (१३२। ७) *'जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार। सोइ हम करब'''' ।'* (१३२) और *'एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठएऊ॥'* (१३३। २) इन सब जगहोंमें केवल 'हित' करनेकी बात कही गयी पर किस प्रकार हित करेंगे यह न खोला था, उसे यहाँ स्पष्ट किया। कुरूपसे सब प्रकारका हित हुआ, अतः उसे अन्तमें यहाँ आकर खोला। (पूर्व स्पष्ट कहनेका मौका न था, अतः उसे पूर्व न लिखा था।) *'कृपानिधाना'* का भाव आगे टिप्पणी २ (घ) में देखिये। (ग) *'दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना'* अर्थात् ऐसा भयंकर रूप दिया कि उसका वर्णन नहीं हो सकता तब भला राजकुमारीसे देखा कैसे जायगा? (घ) व्याकरण—*'दीन्ह'* भूतकालिक क्रिया; आदरवाचक।=दिया। यथा—'लीन्ह, कीन्ह'। **जाइ**=जाता है। वर्तमान क्रिया। यथा—होइ, लखइ, फिरइ, इत्यादि।]

टिप्पणी—२ *'सो चरित्र लखि काहु न पावा।'* इति। (क) (दूसरा न लख सके, यह भगवान्‌की कृपा है) यदि सब देख सके होते तो सभी हँसते, नारदजीकी बड़ी अप्रतिष्ठा होती, सारी लीला ही बिगड़ जाती। (ख) *'नारद जानि सबहि सिरु नावा'*—इस कथनसे सूचित करते हैं कि यहाँ नारदजीके तीन रूप हैं। एक तो विष्णुरूप। नारदजीको अपना स्वरूप भगवान्‌का रूप देख पड़ता है, इसीसे उनको हर्ष है कि *'रूप अति मोरें। मोहि तजि आनहि बरिहि न भोरें॥'* (१३३। ६) दूसरा उनका निज रूप इसीसे वे सभा-समाजभरको नारद देख पड़े और सबने उनको प्रणाम किया। और, तीसरा *'हरि'* अर्थात् वानर रूप। दोनों हरगणों और राजकुमारीको नारदका रूप भयंकर बन्दरका-सा देख पड़ा। यथा—*'मर्कट बदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही॥'* (८) *'रहे तहाँ दुइ रुद्रगन ते जानहिं सब भेउ।'''।'* (१३३)''''''*करहिं कूटि नारदहि सुनाई। नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई॥''इन्हहिं बरिहि हरि जानि बिसेषी।', 'निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई॥'* (१३५। ६)—(इसीसे इसको 'चरित्र' कहा।) इस चरित्रको, इस भेदको, इस गुप्त रहस्यको कोई न भाँप सका। जिसे जैसा रूप देख पड़ा उसने उनको वैसा ही समझा और नारदजीने समझा कि हमको भगवान् जानकर सबोंने प्रणाम किया है, इसीसे उनको रूपका अहङ्कार अधिक हो गया। यथा—*'हृदय रूप अहमिति अधिकाई।'* [(ग)—*'काहु'* से तात्पर्य केवल उनसे है जिनका वर्णन यहाँ कर चुके जो इस समाजमें उपस्थित थे। यथा—*'निज निज आसन बैठे राजा। बहु बनाव करि सहित समाजा॥'* तथा राजा, रानी आदि]। (घ) *'कृपानिधाना'* का भाव यहाँ स्पष्ट किया कि मायासे बचानेके लिये कुरूप दिया पर वह भी ऐसा कि लोक-मर्यादा भी न बिगड़ी और काम भी हो गया। लीलामें जो-जो सम्मिलित होनेको हैं, केवल उन्हींको यह चरित्र लखाया, दूसरोंको नहीं।

टिप्पणी—३ *'रहे तहाँ दुइ रुद्रगन ते जानहिं सब भेउ'* इति। (क) *'सो चरित्र लखि काहु न पावा'*, किसीने न लख पाया यह बता चुके। जिन्होंने यह चरित्र लख पाया अब उन्हें कहते हैं—*'रहे तहाँ''''*। भगवान्‌की इच्छासे ये रुद्रगण भेद जानते हैं क्योंकि इन्हें कुम्भकर्ण-रावण होना है। (ख) *'सब भेउ'* यह कि शिवजीसे इन्होंने अभिमानकी बात कही, शिवजीका उपदेश न माना, भगवान्‌से भी अभिमानकी बात बोले तब भगवान्‌ने मायाको प्रेरित किया, विश्वमोहिनीको देखकर ये मोहित हुए, भगवान्‌से रूप माँगा, भगवान्‌ने इनको कुरूप दिया। (ग) *'परम कौतुकी तेउ'* का भाव कि नारदमुनि *'कौतुकी'* हैं—*'मुनि कौतुकी नगर तेहिं गएऊ'*, ये उन कौतुकी नारदका कौतुक देख रहे हैं। अतएव ये *'परम कौतुकी'* जान पड़े। *'परम कौतुकी'* पदसे सूचित किया कि रुद्रगण शिवजीके भेजे हुए नहीं हैं, इनका कौतुक देखनेका

स्वभाव है, इसीसे ये अपनी इच्छासे आये हैं।* (घ) *'बिप्र बेष देखत फिरहिं'* से जनाया कि (जब नारदजी कैलाससे चले तबसे) ये उनके साथ-साथ सब जगह गये (क्योंकि जानते हैं कि शिवजीका उपदेश नहीं माना है, अवश्य भगवान् कुछ लीला करेंगे। देखें यह कहाँ-कहाँ जाते हैं, क्या-क्या करते हैं) विप्रवेषमें थे जिसमें कहीं रोक न हो, लोग मुनिका शिष्य समझें।

नोट—१ मिलानके श्लोक, यथा—'**इत्युक्त्वा मुनये तस्मै ददौ विष्णुर्मुखं हरेः।''''आननस्य कुरूपत्वं न वेद मुनिसत्तमः॥ पूर्वरूपं मुनिं सर्वे ददृशुस्तत्र मानवाः। तद्भेदं बुबुधुस्ते न राजपुत्रादयो द्विजाः॥**' (३३, ३७-३८) अर्थात् (मैं तुम्हारा हित करूँगा) यह कहकर विष्णुने मुनिका मुख बन्दरका कर दिया। मुनि अपने मुखकी कुरूपताको नहीं जानते। सब मनुष्योंने मुनिके पूर्व (नारद) रूपको ही देखा। राजपुत्रोंने भी इस भेदको नहीं जाना। पुनः यथा—'**तत्र रुद्रगणौ द्वौ तद्रक्षणार्थं समागतौ। विप्ररूपधरौ गूढौ तद्भेदं जज्ञतुः परम्॥**' (३९) अर्थात् वहाँ उनकी रक्षाके लिये दो रुद्रगण विप्रवेष धारण किये हुए उस भेदको जानते थे।—मानसमें रुद्रगणका परमकौतुकी होनेके कारण साथ होना विशेष उपयुक्त है।

जेहि समाज बैठे मुनि जाई। हृदय रूप अहमिति अधिकाई॥ १॥
तहँ बैठे महेसगन दोऊ। बिप्रबेष गति लखै न कोऊ॥ २॥
करहिं कूटि† नारदहि सुनाई। नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई॥ ३॥
रीझिहि राजकुँअरि छबि देखी। इन्हहि बरिहि हरि जानि बिसेषी॥ ४॥
मुनिहि मोह मन हाथ पराएँ। हँसहिं संभुगन अति सचुपाएँ॥ ५॥

शब्दार्थ-**गति**=करनी, लीला, माया। **कूटि** (कूट)=वह हास्य या व्यंग्य जिसका समझना कठिन हो, जिसका अर्थ गूढ़ हो।

अर्थ—जिस समाजमें मुनि अपने हृदयमें रूपका अभिमान बढ़ाये हुए जा बैठे थे॥ १॥ वहीं शिवजीके दोनों गण ब्राह्मणवेषमें बैठे थे। इनकी गतिको कोई जान न सकता था॥ २॥ वे नारदको सुना-सुनाकर कूट वचन कहते थे—'हरिने बहुत अच्छी सुन्दरता दी है॥ ३॥ इनकी छबि देखकर राजकुमारी अवश्य रीझ ही तो जायगी, इन्हें विशेषकर 'हरि' जानकर वरेगी॥ ४॥ मुनिको मोह है, उनका मन दूसरेके हाथमें है। शिवजीके गण बहुत ही सुख पाकर प्रसन्न हो हँसते हैं॥ ५॥

पं० राजबहादुर लमगोड़ा—मजाक कितना अच्छा है? नारद स्वयं समझते हैं कि मैं बड़ा सुन्दर हूँ और फूले नहीं समाते। जितना ही वे फूलते हैं उतनी ही उनकी बन्दरवाली सूरत और बिगड़ती है।

टिप्पणी—१ (क) *'जेहि समाज बैठे'* इसका सम्बन्ध आगेकी *'तहँ बैठे महेसगन दोऊ'''''* इस अर्धालीसे है, पीछेकी *'निज निज आसन बैठे राजा''''''* इस चौपाईसे नहीं है, क्योंकि यदि उससे सम्बन्ध होता तो यहाँ कहते कि *'तेहि समाज बैठे मुनि जाई।'* जिस समाजमें मुनि बैठे उसीमें महेशगण बैठे, यत्-तत्का सम्बन्ध यहाँ है। (ख) *'हृदय रूप अहमिति अधिकाई'* अर्थात् जैसे अहंकारी लोग फूलकर बैठते हैं, वैसे ही ये बैठे हैं, यथा—*'जेहि दिसि नारद बैठे फूली।'* (ग) *'तहँ बैठे महेसगन दोऊ'* इति। इससे जनाया कि लोगोंने इन ब्राह्मणोंको नारदजीके सङ्गी जानकर इनके पास ही बैठनेको जगह दी थी। (घ) *'गति लखै न कोऊ'* अर्थात् कोई यह नहीं जानता कि ये रुद्रगण हैं, नारदजीने भी नहीं जाना, जब उन्होंने शाप मिलनेपर स्वयं बताया तब नारदजीने जाना, यथा—*'हरगन हम न बिप्र मुनिराया।'* सबोंने ब्राह्मण ही जाना। नारदके समीप बैठनेका भाव कि जिसमें हमारी बातें मुनिको सुन पड़ें।—(नोट—इससे

---

* पाण्डेजी और पंजाबीजीका मत है कि 'महादेवजीने गुप्त रीतिसे इन दोनों गणोंको मुनिके साथ कर दिया था।' [यह बात आगे नोटमेंके ३९ वें श्लोकसे झलकती है]

† कूट—को० रा०, बं० पा०, रा०, बा० दा०। कूटि—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२ छ०।

जान पड़ता है कि रुद्रगण भी नारदके साथ-साथ उनके शिष्य ब्रह्मचारी बने हुए रङ्गभूमिमें गये। विप्रवेष धारण करनेका तात्पर्य यही था कि लोग इन्हें नारदके शिष्य ब्रह्मचारी समझकर उनके पास बैठने दें—रङ्गभूमिमें जानेकी रोक न हो। नारदजीने समझा होगा कि दर्शक हैं।)

टिप्पणी—२ (क) *'करहिं कूटि नारदहि सुनाई'* इति। बुरेको भला कहना, यह कूट है। सुनाकर कूट करते हैं जिसमें नारदको समझ पड़े पर उन्हें समझ नहीं पड़ता। यथा—*'समुझि न परै बुद्धि भ्रम सानी।'* भगवान्‌ने तो कुरूप दिया—*'दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना'* और ये कहते हैं *'नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई';* कुरूपको सुन्दर कहना यह कूट है। (ख) *'रीझिहि राजकुँअरि छबि देखी'* भाव कि यह छबि राजकुँअरिके योग्य है। *'रीझिहि राजकुँअरि·····'* तथा *'बरिहि हरि जानि बिसेषी'* यही मुनिने भी निश्चय किया है। यथा—*'मुनि मन हरष रूप अति मोरें। मोहि तजि आनहि बरिहि न भोरें।'* इसीसे नारद कूट नहीं समझते, इनके वचनोंको यथार्थ समझते हैं कि सत्य ही कह रहे हैं। (ग) ☞ यहाँ दो रुद्रगण हैं। प्रथम एक बोला कि *'रीझिहि राजकुँअरि छबि देखी',* तब दूसरेने उसपर कहा कि (हाँ!) *'इन्हहि बरिहि हरि जानि बिसेषी।'* इसमें साधारण अर्थके अतिरिक्त दूसरा अर्थ यह है कि *'इन्हहि हरि'* अर्थात् बन्दर जानकर विशेष *'बरिहि'* अर्थात् जलभुन जायगी अर्थात् बहुत क्रोध करेगी। इस प्रकार दोनों हँसी कर रहे हैं। यह अर्थ आगेकी *'मर्कटबदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही॥'* इस अर्धालीसे स्पष्ट झलक रहा है। *'हरि'* और *'बरिहि'* कूटके शब्द हैं, इनके दो-दो अर्थ हैं। **हरि**=भगवान्।=बन्दर। **बरिहि**=पति बनावेगी, ब्याहेगी।=बर (जल) उठेगी, कुढ़ेगी। यहाँ गूढ़ व्यंग्य है। मुख्यार्थ बाध होकर कुरूपता व्यञ्जित होती है। मुनि इस व्यंग्यको न समझे। यहाँ *'नीकि'* व्यंग्य है, खराब न कहकर *'नीकि'* कहना ही गूढ़ता है।]

टिप्पणी—३ (क)—*'मुनिहि मोह मन हाथ पराएँ'* अर्थात् मन कन्यामें लगा है और अज्ञान है। *'हाथ पराएँ'* अर्थात् अब मन नारदके पास नहीं आता, कन्याके पास रहता है। इसीसे कूट समझ नहीं पड़ती। (ख) **'हँसहिं संभुगन अति सचुपाएँ'** इति। *'नीकि दीन्हि·····बिसेषी'* यह कूट करके (देखा कि उनके हृदयमें अज्ञान छाया है, मन पराधीन हो गया, इसीसे ये कुछ समझते नहीं, यह जानकर) हँसने लगे। [(ग) यह सोचकर हँसते हैं कि कामको जीतनेका अभिमान था, अब कैसे कामातुर हैं। (पंजाबीजी) महाराज हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'नारदको हँसनेका अवसर आज ही मिला है, क्योंकि चाहके वश हुए हैं। यहाँ व्यंग्यसे जनाते हैं कि चाहवश जितने हैं सभी हँसने योग्य हैं।']

नोट—१ शिवपुराणवाली कथामें लिखा है कि नारदको मूढ़ समझकर दोनों हरगण उनके पास जा बैठे और आपसमें सम्भाषण करते हुए नारदकी हँसी करने लगे (इस तरह कि) देखो तो नारदका रूप तो साक्षात् विष्णुका-सा है पर मुख वानरका-सा बड़ा भयंकर है। कामसे मोहित हुआ यह व्यर्थ ही राजकुमारीकी इच्छा करता है। इस तरह छलयुक्त वाक्योंसे परिहास करने लगे। यथा—'**पश्य नारदरूपं हि विष्णोरिव महोत्तमम्। मुखं तु वानरस्येव विकटं च भयंकरम्॥ इच्छत्ययं नृपसुतां वृथैव स्मरमोहितः। इत्युक्त्वा सच्छलं वाक्यमुपहासं प्रचक्रतुः॥**'(४१-४२)—देखिये, मानसमें कैसी मर्यादाके साथ कूट है। पुनश्च यथा—'**न शुश्राव यथार्थं तु तद्वाक्यं स्मरविह्वलः। पर्येक्षच्छ्रीमतीं तां वै तल्लिप्सुर्मोहितो मुनिः॥**'(४३) अर्थात् कामसे व्याकुल मुनिने उनके वाक्यको यथार्थ रूपसे नहीं सुना। वे श्रीमतीको प्राप्त करनेकी इच्छासे उसीको देखते हुए मोहित हो गये।

जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी। समुझि न परै बुद्धि भ्रम सानी॥ ६॥
काहु न लखा सो चरित बिसेषा। सो सरूप नृपकन्या देखा॥ ७॥
मर्कटबदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही॥ ८॥
दो०—सखी संग लै कुअँरि तब चलि जनु राज मराल।
देखत फिरै महीप सब कर सरोज जयमाल॥ १३४॥

शब्दार्थ—**अटपटि**=ऊटपटाँग, उलटा, सीधा, टेढ़ी, कूट।

अर्थ—यद्यपि मुनि ऊटपटाँग वचन सुन रहे हैं तो भी उन्हें समझ नहीं पड़ते क्योंकि उनकी बुद्धि भ्रममें सनी हुई है॥६॥ उस विशेष चरित्रको (वा, उस चरित्रको विशेषरूपसे खास तौरपर) और किसीने न लख पाया, राजकन्याहीने वह रूप देखा॥७॥ बन्दरका-सा मुख और भयंकर शरीर देखकर उसके हृदयमें क्रोध हो आया॥८॥ तब राजकुमारी सखियोंको साथ लिये राजहंसिनीके समान चलती हुई कमल-समान हाथोंमें कमलका जयमाल लिये हुए सब राजाओंको देखती फिरने लगी॥१३४॥

श्रीलमगोड़ाजी—१ कितनी सुन्दरतासे कविने 'मोह मन हाथ पराये' और 'बुद्धि भ्रम' वाले हास्यप्रद दोषोंको उभार दिया है।

२—कविकी कलाकी सूक्ष्मता विचारिये कि जब कन्याने 'मर्कट' वाला भयानक रूप देखा तब ही हम दर्शकोंको भी बताया है, नहीं तो *'दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना'* का संकेत था और शिवगणोंके व्यंग्यसे हमारी भी उत्कण्ठा बढ़ती थी। अब अवश्य उनका व्यंग्य भी साफ है और हमें हँसनेका मसाला भी।

नोट—१ शिवपु० वाले नारदका रूप विष्णुका-सा मुँह बन्दरका देख पड़ा था; और राजकुमारीके हाथमें सोनेका जयमाल था। यथा—**'मालां हिरण्यमयीं रम्यामादाय शुभलक्षणा। तत्र स्वयंवरे रेजे स्थिता मध्ये रमेव सा॥ बभ्राम सा सभां सर्वां मालामादाय सुव्रता। वरमन्वेषती तत्र स्वात्माभीष्टं नृपात्मजा॥ बानरास्यं विष्णुतनुं मुनिं दृष्ट्वा चुकोप सा। दृष्टिं निवार्य च ततः प्रस्थिता प्रीतमानसा॥'** (४५-४७)

टिप्पणी—१ (क) *'जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी।'* ये वाणी सुनाकर कहते हैं, यथा—***'करहिं कूट नारदहि सुनाई',*** और ये सुनते हैं तब भी कूट समझ नहीं पड़ता; इसका कारण बताते हैं कि *'बुद्धि भ्रम सानी'* अर्थात् बुद्धिमें भ्रम मिल गया है। मन पराये हाथमें है यह कह ही चुके। इस तरह मन और बुद्धि दोनोंका भ्रष्ट होना दिखाया; इसीसे कुछ समझ नहीं पड़ता। [मन संकल्प-विकल्प करता है तब बुद्धि उसपर विचार करती है सो यहाँ दोनों भ्रष्ट हो गये हैं। 'मन कामनाके वश हो जाता है तब बुद्धिमें भ्रम होता है। यहाँ नेत्र अपना विषय (रूप) पाकर उसीमें लुब्ध हैं, उन्हींके कारण मन कामनाके वश हो गया।' (वै०) 'मुनि' शब्दसे जनाया कि उनकी मननशीलतामें त्रुटि नहीं है पर बुद्धिमें भ्रम हो गया है, वह विषयासक्ति और अभिमानसे दूषित हो गयी है, अतः ध्वनि व्यंजना समझ नहीं रहे हैं, समझ रहे हैं कि ये कोई जानकार हैं, प्रशंसा कर रहे हैं। (वि० त्रि०)] (ख) *'काहु न लखा सो चरित बिसेषा'* इति। ☞*'सो चरित्र लखि काहु न पावा'* (१३३। ८) पर प्रसंग छोड़ा था, अब पुनः वहींसे प्रसंग उठाते हैं। पूर्वके *'सो चरित्र लखि काहु न पावा'* का सम्बन्ध राजाओंके साथ था कि कुरूप देने (वा, प्राप्ति) का चरित्र कोई नृप न लख पाया। शम्भुगणोंने लखा सो उनका हाल यहाँतक कहा। अब उसी चरणका सम्बन्ध कन्याके साथ लगाते हैं कि कुरूप दिये जानेका चरित किसीने न जाना, नृपकी कन्याने वह स्वरूप देखा। (ग) [*'बिसेषा'* का भाव कि रुद्रगणोंको भी इस प्रकार पूर्णरीत्या न देख पड़ा जैसा इसको।]

टिप्पणी—२ *'मर्कटबदन भयंकर देही'* इति। (क) पूर्व इतना मात्र कहा था कि *'दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना।'* कुरूपका वर्णन वहाँ न किया था, यहाँ करते हैं। *'मर्कटबदन'* बनानेका भाव कि रावणने अपनी मृत्यु नर-वानरके हाथ माँगी है, यथा—*'हम काहूके मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे॥'* बन्दरका-सा मुख बनानेसे नारद शाप देंगे कि *'कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥'* यह लीलाका कार्य होगा। (ख) *'भयंकर देही'* बनानेका भाव कि सब वानर भयंकर होंगे (क्योंकि राक्षसोंको इनसे भय दिलाना है), यह बात अभिप्रायके भीतर (छिपी) है। स्पष्ट देखनेमें भाव यह है कि *'मर्कटबदन·····'* इसलिये बनाया कि कन्या जयमाल न डाले, हमारे भक्तका हित हो। संस्कृतभाषामें देही जीवको कहते हैं सो अर्थ यहाँ नहीं है। **देही**=देह। यथा—*'परहित लागि तजइ जो*

देही', 'दच्छ सुक्र संभव यह देही', 'चोंचन मारि बिदारेसि देही।' (ग) *'देखत हृदय क्रोध भा तेही'* इति। भयंकर देह देखकर भय होना चाहिये था सो न होकर क्रोध हुआ, यह क्यों? इसका समाधान यह है कि—आशयसे जान पड़ता है कि नारद उसकी ओर घूर-घूरकर एकटक दृष्टि लगाये हुए देख रहे हैं जो दशा उनकी प्रथम दर्शनपर हुई थी। यथा—*'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥',* वही दशा पुनः हो गयी है। बेकायदे देख रहे हैं, इसीसे क्रोध हुआ। अथवा, ऐसा कुरूप मनुष्य हमारा पति बनने आया है यह समझकर क्रोध हुआ। अथवा, भगवान्‌ने ऐसा रूप ही दिया है कि जो देखे उसीको क्रोध उत्पन्न हो। यह कुरूप दोको देख पड़ा, एक तो कन्याको दूसरे नारदको। कन्याको क्रोध आया और नारदने जब देखा तब *'बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा'।* (क्रोध हृदयमें रहा, बाहर न निकाला क्योंकि उसका समय न था। क्रोधसे रसभंग हो जाता, मुनि कहीं शाप ही न दे देते। इत्यादि)

नोट—२ मानसमयंककार लिखते हैं कि 'विश्वमोहिनी जो शृङ्गाररसका रस है, शृङ्गाररसवत्‌श्रीमन्नारायणको चाहती है और नारद बीभत्स और भयानक रसका मानो रूप धारण किये हैं। अर्थात् सिरसे नीचे सुन्दर स्वरूप मानो बीभत्स रस है और मुख बन्दरका है सो भयानक है। ये दोनों शृङ्गार रसके शत्रु हैं। अतएव राजकुमारी इनको देखते ही क्रोधित हुई।' और भी भाव इसके ये कहे जाते हैं कि—(२) माया भी भगवान्‌के इस चरित्रको न समझी, उसने न जाना कि ये नारद हैं। उसे क्रोध आ गया क्योंकि वह सोचने लगी कि हमने तो नारदको मोहनेके लिये यह सब रचना की, उसमें यह बन्दर कहाँसे आ गया। (३) भगवान्‌ने लीलाकी सब सामग्री एकत्रित की, उसमेंसे एक यह भी है। उन्हींकी इच्छासे क्रोध हुआ। (४) साथमें सखियाँ-सहेलियाँ हैं अतः भयभीत न हुई। (५) मायाने क्रोध भी मुनिको विशेष मोहमें डालनेके लिये किया। (६) बन्दरका देखना अशुभ है अतएव स्वयंवरमें अमङ्गल जान क्रोध किया इत्यादि।

नोट—३ अद्भुत रामायणवाले कल्पके रामावतारकी कथामें अवतारका कारण नारदशाप ही बताया गया है। वहाँ शीलनिधि और विश्वमोहिनीके स्थानपर श्रीअम्बरीषजी महाराज और उनकी कन्या श्रीमती बताये गये हैं। कथा यह है कि एक समय श्रीनारदजी और श्रीपर्वतऋषि दोनों मित्र साथ-साथ महाराज अम्बरीषजीके यहाँ गये। दोनों श्रीमतीके रूपपर मुग्ध होकर उसको पृथक्-पृथक् राजासे माँगने लगे। राजाका उत्तर मिलनेपर कि जिसको कन्या जयमाल पहिना दे वही ले जाय, दोनों पृथक्-पृथक् भगवान्‌के यहाँ गये और दोनोंहीने उनसे सब वृत्तान्त कहकर अपना-अपना मनोरथ प्रकट किया। नारदने पर्वतऋषिका मुँह बन्दरका-सा और पर्वतने नारद मुनिका मुँह लंगूरका-सा कर देनेके लिये पृथक्-पृथक् प्रार्थना की और साथ ही वह भी प्रार्थना की कि राजकुमारीको ही वह रूप देख पड़े, दूसरेको नहीं भगवान्‌ने दोनोंसे *'एवमस्तु'* कहा। तत्पश्चात् दोनों ही राजाके यहाँ गये। राजाने कन्याको बुलाकर कहा कि दोनों ऋषियोंमेंसे जिसे चाहो उसे जयमाल पहिना दो। कन्या जयमाल लिये खड़ी है। उसे वहाँ एक बन्दर, एक लंगूर और एक सुन्दर धनुषबाणधारी मनुष्य देख पड़े। ऋषि कोई न देख वह ठिठककर रह गयी। संकोचका कारण पूछे जानेपर उसे जो देख पड़ा, वह उसने कह दिया। थोड़ी देर बाद कन्या भी गायब हो गयी। इस रहस्यको न समझकर दोनों ऋषि हरिके पास गये। उन्होंने कहा कि हम भक्तपराधीन हैं, तुम दोनों हमारे भक्त हो। हमने दोनोंका कहा किया।'''' पीछे रहस्य समझनेपर कि ये ही द्विभुजरूपसे कन्याको ले गये थे, दोनोंने उनको शाप दिया कि अम्बरीष दशरथ हों और तुम उनके पुत्र होगे। शेष शाप मानसके अनुसार है।

टिप्पणी—३ *'सखी संग लै कुअँरि तब''''''* इति। [(क) 'बैजनाथजी लिखते हैं कि वन्दीजनोंकी-सी एक जातिकी स्त्री होती है जो सब राजाओंका वृत्तान्त जाने रहती है वही स्वयंवरा सखी साथमें है। जिस राजाके सामने कन्या जाती है, उसका देश, गोत्र, कुल, बल, वीरता, प्रताप, नाम इत्यादि समग्र वृत्तान्त वह वर्णन कर देती है।] (ख) *'चलि जनु राज मराल'* का भाव कि जब कुरूप देखकर क्रोध हुआ तब वहाँसे चल दी। (यहाँ चाल उत्प्रेक्षाका विषय है। मानो राजहंसिनी चल रही हो, यह कहकर

कवि राजकुमारीकी उत्कृष्ट चालका अनुमान करा रहा है। यहाँ उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।) कन्याका रूप सुन्दर है, यथा—*'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी।'* उसके लक्षण सुन्दर हैं, यथा—*'लच्छन तासु बिलोकि भुलाने।'* और यहाँ *'चलि जनु राज मराल'* कहकर जनाया कि चाल भी सुन्दर है। रूप, गुण और गति तीनोंको सुन्दर कहकर जनाया कि इन तीनोंसे उसने नारदजीके मनको हर लिया है। (रूप देख उनका वैराग्य और लक्षण देख उनका ज्ञान तो प्रथम ही चला गया था; अब चाल देख मन भी हर लिया गया। ये सब उपाय केवल नारदको मोहनेके लिये किये गये।) (ग) *'देखत फिरै',* देखती-फिरती है, कथनका भाव कि कोई इसके मनमें नहीं जँचता। [ऐसा जान पड़ता है कि नारदजी रंगभूमिके द्वारके निकट ही बैठे, जहाँसे राजकुमारी स्वयंवरभूमिमें प्रवेश करेगी। इसीसे उसकी दृष्टि प्रथम नारदपर ही पड़ी। इसके बाद रंगभूमिमें उपस्थित अन्य सब राजाओंको देखती फिर रही है कि कोई अपने पसंदका दूलह मिल जाय पर अभी कोई मनका वर देख नहीं पड़ता; अतः फिर रही है। (घ) *'कर सरोज जयमाल।'* यहाँ सरोज देहलीदीपक है। लक्ष्मीजी जब क्षीरसागरसे निकली थीं तब उनके हाथोंमें भी कमलका जयमाल था, वैसे ही यहाँ भी कमलका है।]

जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली॥ १॥
पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं। देखि दसा हरगन मुसुकाहीं॥ २॥
धरि नृप तनु तहँ गएउ कृपाला। कुअरि हरषि मेलेउ जयमाला॥ ३॥

शब्दार्थ—**उकसना**=उचकना, ऊपरको उठना, उतरना। **अकुलाना**=छटपटाना, व्याकुल होना, **मेलना**=डालना।

अर्थ—जिस दिशामें नारदजी (रूपके अभिमानमें हर्षसे) फूले बैठे थे उस ओर उस (कन्या) ने भूलकर भी न देखा॥ १॥ मुनि बारम्बार उचकते और छटपटाते हैं। (उनकी) दशा देखकर हरगण मुसकराते हैं॥ २॥ कृपालु भगवान् राजाका शरीर धारणकर वहाँ गये। राजकुमारीने हर्षपूर्वक उनको जयमाल पहना दिया॥ ३॥

श्रीलमगोड़ाजी—नारदका बारम्बार उचकना, जगह बदल-बदलकर बैठना, कन्याका उतना ही क्रोधित होना और हरगणोंका मुसकाना, ऐसी प्रगतियाँ हैं जो हास्य तथा फिल्मकलाकी जान हैं।

टिप्पणी—१ (क) *'सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली।'* अर्थात् उसको इनका रूप देखकर इतना क्रोध हुआ कि जिस दिशामें ये बैठे हैं वह दिशा ही छोड़ दी और सर्वत्र राजाओंको देखती-फिरती है। (ख) *'उकसहिं अकुलाहीं'* इति। आकुलता यह समझकर होती है कि उसने अभी हमें देखा नहीं है; देखती तो जयमाल अवश्य डाल देती, इस ओरसे चली गयी है, इधर आती नहीं है। कहीं ऐसा न हो कि बिना हमें देखे दूसरेके गलेमें जयमाल डाल दे, इसीसे अपनेको दिखलानेकी इच्छासे उचक-उचक पड़ते हैं। (ग) *'देखि दसा हरगन मुसुकाहीं'* इति। पहिले कूट कर-करके हँसते थे, अब दशा देखकर मुस्कुराते हैं। भाव यह है कि जबतक कन्या सभामें नहीं आयी थी, तबतक कूट करते और हँसते रहे पर जब वह सभामें आयी तब कूट करना और हँसना बंद कर दिया, क्योंकि तब ऐसा करना शिष्टाचारके विरुद्ध है, मर्यादाके प्रतिकूल है, इसीसे अब मुस्कुराते हैं।

☞(गोस्वामीजीने मर्यादाकी रक्षा सर्वत्र की है, मर्यादापुरुषोत्तमके उपासक ही तो ठहरे। राजकुमारी स्वयंवरभूमिमें आ गयी है; वह एक बड़े प्रतिष्ठित राजाकी कन्या है, उसके सामने हँसी-मसखरी ठट्ठा अनुचित है। अतः वह सब रुक गया; सब काम मर्यादासे होने लगा। यह रीति कविने अन्यत्र भी दर्शायी है। जैसे सीता-स्वयंवरमें)।

टिप्पणी—२ *'धरि नृप तनु तहँ गएउ कृपाला......'* इति। (क)—(राजाका रूप धरकर क्यों गये? अपने रूपसे क्यों न गये? इसके कारण ये हैं कि—) वहाँ नृपसमाज है, इसीसे नृपतन धरकर गये। (स्वयंवर राजाकी कन्याका है, उसमें राजाओंको ही जाना उचित है और वहाँ समाज भी राजाओंका ही है यथा—*'निज*

निज आसन बैठे राजा। बहु बनाव करि सहित समाजा॥' अतएव समाजके योग्य राजा बनना आवश्यक समझकर राजा बने। देखिये श्रीसीता-स्वयंवरमें भी देवता, दैत्य जब आये तो मनुष्यरूप धारण करके ही आये थे—*'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥'* (१। १५१) पुनः देखिये कि शिवजी भुशुण्डिजीके आश्रमपर जब श्रीरामचरित सुनने गये तब उस समाजकी योग्यताके विचारसे समाजके अनुकूल मराल-तन धारण कर उन्होंने वहाँ कथा सुनी। यथा—*'तब कछु काल मराल तन धरि तहँ कीन्ह निवास। सादर सुनि रघुपति गुन पुनि आयउँ कैलास॥'* (७। ५७) वैसे ही यहाँ नृपकन्याके स्वयंवरमें नृपतन धरकर जाना योग्य ही था) इसमें आभ्यन्तरिक (भीतरका गुप्त) अभिप्राय यह है कि रावणकी मृत्यु नर-वानरके हाथ है, (भगवान्को लीला करना है, नरतन धरनेका शाप लेना है) नरतन धरकर जानेसे नारद नरतन धरनेका शाप देंगे, जैसा आगे स्पष्ट है—*'बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तन धरहु श्राप मम एहा॥'* (१३७। ६) (और भी एक कारण स्पष्ट ही है कि यदि भगवान् अपने चतुर्भुजरूपसे जाते तो नारदजी उनको पहचान लेते, जिसका परिणाम यह होता कि भरे समाजमें वे लड़ने लगते, थुक्का-फजीहत होने लग जाती। अतएव उस तनसे न जा सकते थे)।

(ख) *'कृपाला'* इति। भगवान्ने नारदका अभिमान कृपा करके दूर किया, यथा—*'संसृति मूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना॥ ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥ जिमि सिसुतन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥ जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर। ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥ तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।'* (७। ७४) इसीसे इस प्रसङ्गमें सर्वत्र उनको *'कृपाल'* विशेषण दिया है। यथा—*'करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्ब तरु भारी॥'* (१२९। ४) *'प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला।'* (१३२। ३) *'हिय हँसि बोले दीनदयाला'।* (१३२। ८) *'मुनि हित कारन कृपानिधाना। दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना॥'* (१३३। ७) *'धरि नृपतनु तहँ गएउ कृपाला।'* तथा आगे *'मृषा होउ मम श्राप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला॥'* (१३८। ३) [पुनः भाव कि नारदजीका दुःख शीघ्र मिटाना चाहते हैं, इसीलिये नृपतन धरकर भगवान् वहाँ गये। (वै०) (ग) *'हरषि मेलेउ जयमाला'*—भाव कि इच्छानुकूल पतिकी प्राप्ति हो गयी।

नोट—१ शिवपु० में लिखा है कि भगवान् राजाके वेषमें आये। किन्तु उनको राजकुमारीके अतिरिक्त किसी औरने नहीं देखा।—'**न दृष्टः कैश्चिदपरैः केवलं सा ददर्श हि।**' (४९)। *'हरषि मेलेउ'* से यह भी जनाया कि अनुकूल वर सभामें न दिखायी पड़नेसे दुःखी हो गयी थी। यथा—'**न दृष्ट्वा स्ववरं तत्र त्रस्तासीन्मनसेप्सितम्।**' (रुद्र सं० २। ३। ४८) भगवान्को देखते ही उसका मुखकमल खिल उठा। यथा—'**अथ सा तं समालोक्य प्रसन्नवदनाम्बुजा। अर्पयामास तत्कण्ठे तां मालां वरवर्णिनी॥**' (५०)

दुलहिनि लै गे* लच्छि निवासा। नृप समाज सब भएउ निरासा॥ ४॥
मुनि अति बिकल मोह मति नाठी। मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी॥ ५॥

शब्दार्थ—**लच्छिनिवास**=श्रीनिवास।=श्रीपति।=जिनमें लक्ष्मीका निवास है। नाठी (नष्ट)=नष्ट कर दिया; नष्ट हो गयी।

अर्थ—लक्ष्मीपति भगवान् दुलहिनको ले गये। सब राजमण्डली निराश हो गयी॥ ४॥ मोहने मुनिकी बुद्धिको नष्ट-भ्रष्ट कर डाला, इससे मुनि अत्यन्त व्याकुल हो गये, मानो गाँठसे मणि छूटकर कहीं गिर गयी हो॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'दुलहिनि लै गे'''''* इति। (क) जयमाल-स्वयंवर था, इससे जयमाल पड़ते ही श्रीनिवास पति हुए और कन्या दुलहिन हुई। इसीसे यहाँ उसे *'दुलहिनि'* कहते हैं। (विवाहके पूर्व कुमारी, बाला, राजकुमारी, कन्या, कुअँरि आदि शब्द उसके लिये प्रयुक्त किये गये थे। विवाह होनेपर *'दुलहिनि'* कहा।

* लै गये— १७२१। लै गे—छ०। ले गये १७६२। लेगे—१७०४, रा० प०। लै गे—१६६१, को० रा०।

इससे ग्रन्थकारकी उपयोगी शब्दोंकी आयोजनामें सावधानता सराहनीय है।) (ख) *'लच्छिनिवासा'* शब्द देकर जनाया कि विश्वमोहिनी भी भगवान‍्की एक तरहकी लक्ष्मी ही है, इसीसे भगवान् उसे ले गये। [भगवान‍्में ही लक्ष्मीका निवास है, अतएव वह दूसरेकी न दुलहिन ही हो सकती थी और न दूसरेके साथ वह जा ही सकती थी। (मा० पी० प्र० सं०) (ग) *'नृपसमाज सब भएउ निरासा'*—भाव कि कोई यह भी न जान पाया कि वह कौन था, जो एकाएक आया और कुमारीको वर ले गया। राजा तो सब पहलेसे बैठे थे। इसके लिये कोई आसन भी नहीं था। खड़े-खड़े आया और काम करके चला गया। कोई कुछ कर न सका, अतः पूरी निराशा हुई (वि० त्रि०)।]

टिप्पणी—२ *'मुनि अति बिकल……'* इति। (क) *'अति बिकल'* का भाव कि भारी वस्तुकी हानिमें भारी व्याकुलता होती है। यही बात आगे कहते हैं कि *'मनि गिरि गई'।* (जितना ही अधिक अमूल्य पदार्थ हाथसे निकल जाता है, उतनी ही अधिक व्याकुलता होती है। इनका *'अति'* गया, अतएव ये *'अति'* विकल हैं)। पुनः, भाव कि मुनिको अपने रूपपर बड़ा हर्ष और अभिमान था, पर जब कन्या सामनेसे जयमाल लिये हुए निकल गयी तब वे *'विकल'* हुए, (*'पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं'* में यह भाव गर्भित है कि कन्याके एक बार चले जानेपर भी उनको आशा बनी रही कि वह फिर आवेगी तब मुझको ही जयमाल पहनावेगी) और जब भगवान् उसे ले गये तब *'अति बिकल'* हुए। [पुनः, भाव कि राजाओंको कुमारीके मिलनेकी आशा लगी हुई थी, उसके न मिलनेसे उसका केवल *'निराश'* होना कहा; यथा—*'नृपसमाज सब भएउ निरासा'* और मुनि तो उसे मिली हुई ही माने बैठे थे, उन्हें पूर्ण विश्वास था कि वह दूसरेको न ब्याहेगी, जैसा *'आन भाँति नहिं पावौं ओही।'* (१३२। ६) *'मोहि तजि आनहिं बरिहि न भोरे।'* (१३३। ६) से स्पष्ट है, अतएव वे *'अति बिकल'* हुए। (मा० पी० प्र० सं०)] (ख) *'मोह मति नाठी'* इति। मोहसे बुद्धि नष्ट हो जाती है। यथा—*'मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की॥'* (२। २८६) *'करउँ बिचार बहोरि बहोरी। मोह कलिल ब्यापित मति मोरी।'' भयउँ भ्रमित मन मोह बिसेषा॥'* (७। ८२) *'प्रबल अबिद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा॥ तब सोइ बुद्धि पाइ उजियारा। उर गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा॥'* (७। ११८)। तथा यहाँ *'मोह मति नाठी।'* (ग) *'मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी'* इति। विश्वमोहिनी मणि है, उसके लिये मुनिने यत्न किया, भगवान‍्से रूप माँग लाये, यह निश्चय हो गया कि वह हमको ही मिलेगी—*'मोहि तजि आनहिं बरिहि न भोरें'* यही मणिका गाँठमें बाँधना है। वह गाँठसे छूटकर गिर गयी, दूसरा ले गया। ☞इस प्रसंगसे दिखाया कि विवाहके आदिमें दुःख है। (यथा—*'सुता सुलच्छन कहि नृप पाहीं। नारद चले सोच मन माहीं॥'* अर्थात् चिन्ता उत्पन्न कर दी) विवाहका प्रयत्न करे और न सिद्ध हो (सफलता न प्राप्त हो) तो भी दुःख है, (यथा—*'मुनि अति बिकल मोह मति नाठी।……'* और अरण्यकाण्डमें दिखायेंगे कि विवाह करनेपर भी दुःख है, यथा—*'अवगुन मूल सूल प्रद प्रमदा सब दुख खानि।'* इस तरह दिखाया कि आदि, मध्य, अवसान तीनोंमें विवाह दुःखद है। (घ) राजाओंका निराश होना कहा और नारदका *'अति बिकल'* होना कहा। भेदमें अभिप्राय यह है कि दूसरेकी चीज न मिलनेपर निराशा होती है और अपने गाँठकी वस्तु नष्ट होने (निकल जाने) से व्याकुलता होती है। नारदजी विश्वमोहिनीको अपनी स्त्री मान चुके थे, *'मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी'* इसीसे उसके न मिलनेसे अति व्याकुल हो गये।

नोट—१ विश्वमोहिनीको मणि कहा। क्योंकि इसमें अगणित अमूल्य गुण वा लक्षण देखे थे, सर्वसुलक्षणसम्पन्ना थी, यथा—*'जो एहि बरै अमर सोइ होई'* इत्यादि।

नोट—२ यहाँ नृपसमाजका जाना नहीं कहा गया। क्योंकि यहाँ केवल नारदजीसे प्रयोजन है। पुनः, इस कारण भी राजसमाजका जाना न कहा गया कि यह नगर और सब समाज तो मायामय ही था, इनका जाना कहाँ कहें। वा मायावीके जानेके साथ मायाका खेल-समाज भी सब चला जाता ही है, वैसे ही उसका जाना कहकर इसका भी लुप्त होना जना दिया।